

ISSN : 2321-5569

# मधुमती

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर  
वर्ष 59, अंक 12- दिसम्बर, 2019



मूल्य ₹ बीस

ISSN 2321-5569

# मधुमती

वर्ष 59, अंक 12, दिसम्बर, 2019

UGC Care list Group 'D' S.L.No. 57

प्रधान सम्पादक

विकास सीतारामजी भाले

आई.ए.एस.

सम्पादक

ब्रजरतन जोशी

[www.rsaudr.org](http://www.rsaudr.org)

email : [madhumati.udaipur@gmail.com](mailto:madhumati.udaipur@gmail.com)

# मधुमती

वर्ष 59, अंक 12, दिसम्बर, 2019

UGC Care list Group 'D' S.L.No. 57

प्रधान सम्पादक

विकास सीतारामजी भाले

आई.ए.एस.

सम्पादक

ब्रजरतन जोशी

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. बसन्तसिंह सोलंकी

आवरण एवं रेखांकन

राजेन्द्र पी. शर्मा, 9680146208

अंक का मूल्य : 20/-

वार्षिक शुल्क : 240/-

(वार्षिक शुल्क धनादेश, बैंक ड्राफ्ट, एटपार चैक या नकद एवं ऑनलाइन हस्तान्तरण की व्यवस्था है। सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के नाम से ही भेजें।)

प्रकाशक

सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी,

सेक्टर-4, हिरण मगरी, उदयपुर (राज.) - 313 002

दूरभाष : 0294-2461717

मुद्रक

संजय प्रिन्टर्स,

71, महिला मण्डल स्कूल के पास, उदयपुर

मो. 9001000700

: मधुमती के फेसबुक पेज से जुड़ें :

[https : www.facebook.com/madhumatihindi](https://www.facebook.com/madhumatihindi)

“मधुमती में प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास हैं। मधुमती में प्रकाशित लेखों/ रचनाओं में व्यक्त विचार/तथ्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत हैं। मधुमती में प्रकाशित रचनाओं के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही अकादमी इसके लिए उत्तरदायी है।”

		अमृता चतुर्वेदी अथ किन्नर गाथा	54
		मिथिलेश गाँधी की राजनीतिक दृष्टि	57
सम्पादक की बात	07		
विशेष स्मरण		उपन्यास अंश	
गंगाशरण सिंह		रतनकुमार सांभरिया साँप	65
धर्मवीर भारती : साँस की कलम का लेखक	11	कहानी	
प्रयाग शुक्ल		रश्मि शर्मा लाली	81
रघुवीर सहाय : आज	14	नीलिमा टिक्कू तोहफा कैसा लगा	92
लेख		कविता	
रमेशचन्द्र शाह	17	अनिरुद्ध उमट की सात कविताएँ	95
पावनता का पुनर्वास और हमारा समय		प्रभात की पाँच कविताएँ	99
माधव हाड़ा	30	नीतेश व्यास की चार कविताएँ	104
देहरी पर दीपक		अनुवाद	
पल्लव	37	मूल उर्दू कवि : मीराजी	107
नन्द चतुर्वेदी : अम्लान रोशनी की तलाश		अनुवादक : शीन काफ़ निज़ाम	
शशिभूषण मिश्र	48		
कात्यायनी : रणनीतिक प्रतिरोध की कविता			

## समीक्षा

नितिन सेठी प्रकाश मनु : आलोकित चिंतन	116
ललित श्रीमाली परिवेश का जीवन्त चित्रण	120
ममता कृष्णा सोबती और विस्थापन का दर्द	122
साहित्यिक परिदृश्य	128

## डेटावाद और हम

हम डेटा समय के नागरिक हैं। डेटा ही जीवन है। जहाँ देखें वहाँ डेटा की धमक। डेटा हमारे समय की सर्वोच्च माँग है। डेटा मानी ज्ञान का प्राथमिक स्रोत। कोई भी डेटा सूचना से इस रूप में भिन्न है कि उसमें बिखराव, अवर्गीकरण के साथ परिपक्व जानकारी नहीं होती। सूचना ज्ञान का द्वितीय स्तर है, क्योंकि सूचना डेटा के माध्यम से निर्मित होती है और सूचना से ज्ञान की यात्रा आगे बढ़ती है। इसीलिए डेटा के सामने सब गौण है। डेटावादी के लिए हर मनुष्य एक चिप है। हमारे समय का चरम-परम सब कुछ डेटा ही है। क्योंकि ज्ञान की वर्तमान राजनीति में जो भी तर्क और गणनाएँ हमारे सम्मुख आती हैं उनका आधार डेटा ही है। इसलिए डेटावादी यह मानते हैं कि यह संसार डेटा के अजस्र प्रवाह का ही परिणाम है। इसलिए हर डेटावादी सूचना तंत्र को और अधिक मजबूत बनाने, फैलाने और संगठित करने में लगा। क्योंकि अब उसका लक्ष्य डेटा से महाडेटा की ओर का है।

डेटा शब्द का पहली बार प्रयोग सोलहवीं शताब्दी से मिलता है। डेटा शब्द लेटिन के Datum से बना है जिसका अर्थ है कुछ देना। इस रूप में डेटा तथ्यों और सांख्यिकी के मिश्रण से हमें कुछ विश्लेषण देता है। ज्ञान के वर्तमान परिदृश्य में पहली बार डेटा शब्द का प्रयोग डेविड बुक्स ने न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित अपने लेख द फिलॉसफी ऑफ़

डाटा में प्रयुक्त किया। कालान्तर में विश्व इतिहास के गंभीर अध्ययता और हमारे समय के लोकप्रिय लेखक युवाल नोवा हरारी ने इसे स्थापित करते हुए इसकी विस्तारित व्याख्या की है। वे इसे उभरते विमर्श और एक नवीन मजहब के रूप में व्याख्यायित करते हैं। अपनी चर्चित कृति होमोडेयस में वे कहते हैं कि - डेटावादी के लिए केवल मनुष्य ही नहीं वरन् सृष्टि का हर प्राणी मात्र एल्गोरिदम है। एल्गोरिदम के मानी एक कलन विधि अर्थात् गणितीय नियमों की प्रणाली। वे कहते हैं कि डेटावाद का जन्म जीव विज्ञान और कम्प्यूटर विज्ञान की छत्रछाया में हुआ है। इसमें भी जीव विज्ञान की भूमिका अहम है।

डेटावाद की मान्यता के उलट हमारी अपनी ज्ञान परम्परा में सूचना का स्थान सबसे निचले पायदान पर है। क्योंकि सर्वप्रथम हम सूचना का संग्रहण करते हैं और सूचना से ज्ञान की ओर बढ़ते हैं। यही ज्ञान आगे जाकर प्रज्ञा में बदलता है। लेकिन आज के समय में सूचनाओं के विस्फोट के चलते हम ज्ञान और प्रज्ञा के साथ तालमेल बैठाने में असमर्थ होते जा रहे हैं। बल्कि ज्ञान और प्रज्ञा तो इस समय संदेह के घेरे में हैं। अब तो महाडेटा की यात्रा पर निकल चुका तकनीकी मानववाद मनुष्य की अनंत क्षमताओं को बौना साबित करने में जुटा है। डेटावाद की मान्यताओं के आलोक में आगे बढ़े तो पता लगेगा कि सूचना ही जीवन है। सूचना और जीवन

का सम्बन्ध नाभिनालबद्ध है। ऐसे में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अधिकाधिक माध्यमों का उपयोग करे, उनसे जुड़ाव रखे, और अपलोड, लाईक और साझा करने की अहम प्रविधि को अपनाते हुए डेटा से महाडेटा की यात्रा को गति और बल दे। डेटावादी मानववाद की इस पुरानी मान्यता को नकारते हैं कि हमें भीतर की ओर उन्मुख होना चाहिए। मानववादी ऐसा इसलिए कहता था क्योंकि अनुभव का जन्म हमारे भीतर ही होता है। प्रत्येक अनुभव हमारे भीतर ही जन्मता, पलता और विकसित होता है। इसलिए कहा गया कि हमें भीतर की ओर उन्मुख होना चाहिए।

जब कि डेटावादी का तर्क अनुभव को भीतर महसूस करने की बजाय साझा करने पर बल देता है। इतना ही नहीं, डेटावादी तो इससे भी आगे जाकर यह भी मानता है कि मनुष्य और पशु के अनुभव में कोई श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ नहीं है। फर्क सिर्फ इतना भर है कि पशु डेटा प्रणाली की समृद्धि में कोई भूमिका नहीं निभाते जबकि मनुष्य डेटा की समृद्धि में हस्तक्षेप कर उसे और उन्नत बना सकता है। इसलिए डेटावादी के लिए मनुष्य पशु की तुलना में श्रेष्ठ है और वह मानवीय अनुभव को पवित्र भी नहीं मानता।

ऐसा वह इसलिए भी मानता है कि क्योंकि डेटावादी मान्यता के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने आप में एक इंडिविजुअल नहीं वरन् एक एल्गोरिद्म या एल्गोरिद्मों का समुच्च्य है। क्योंकि वह एल्गोरिद्म से बना है। अतः वह स्वतंत्र नहीं है। यानी मनुष्य का संचालन बाहरी दबावों का परिणाम होगा। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह डेटावाद हमें हमारे सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति तक ले जा पाने में सक्षम है? क्या यह सचमुच हमारी समस्याओं का अंत करने वाला साबित होगा? या उन्हें और अधिक जटिल बनाने वाला? क्या यह हमारी रूपान्तरणकारी प्रवृत्ति

के अनुकूल है या प्रतिकूल? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने उठते हैं। यहाँ स्पष्ट हो जाना जरूरी है कि डेटा या महाडेटा कोई भी हमारी इन्द्रियानुभव की जीवंतता की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य एक अनुभव, संवेदना सम्पन्न प्राणी है। अनुभव एक व्यक्तिनिष्ठ घटना है। प्रत्येक अनुभव में तीन घटकों का योग होता है, जो क्रमशः इन्द्रियबोध, भावावेग और विचार के रूप में देखे जाने एवं लक्षित किए जाते हैं। संवेदनशीलता से तात्पर्य है इन्ही तीनों घटकों पर ध्यान देना और इनसे स्वयं/अन्य को प्रभावित करने की गुंजाईश का होना। यहाँ यह भी ध्यान में रखा जाना प्रासंगिक होगा कि अनुभव एवं संवेदनशीलता एक अंतहीन क्रम में एक-दूसरे को गढ़ते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा उपक्रम जो हमारे आनंद प्राप्ति का साधन/माध्यम बने, उसका अनुभव होना आवश्यक है। संवेदनशीलता से उस अनुभव को हम महसूसते हैं। डेटावादी क्रांति से पूर्ण आनंद के लक्ष्य की प्राप्ति किसी स्तर पर संभव नहीं है। क्योंकि यहाँ इन्द्रियानुभव है ही नहीं। यहाँ तो सब कुछ एल्गोरिद्म है। मनुष्य एक डाटा प्रोसेसिंग प्रणाली का हिस्सा मात्र है।

दूसरे, डेटा के आधार पर बनी तकनीक जहाँ एक हमारे जीवन को सहज और सरल बनाती है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य की हस्तक्षेपकारी भूमिका को अति सीमित या लगभग विलोपित ही कर देती है। परिणामस्वरूप जो समाज या व्यवस्था जितनी अधिक डेटा सम्पन्न होगी, वहाँ निरन्तर मानवीय हस्तक्षेप कम होता या लगभग समाप्त हो जाएगा। वर्तमान तकनीकी उपक्रम इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। ऐसे में मनुष्यता का एक विशाल हिस्सा श्रम से वंचित हो जाएगा और मनुष्य समाज में रोजगारविहीन विकास की समस्या अपने विकरालतम रूप में हमारे सम्मुख प्रकट होगी।

एक और अहम परेशानी यह होगी कि इस व्यवस्था में प्रकृति के साथ हमारा कोई संवाद और सम्पर्क नहीं रहेगा। इसलिए पारिस्थितिकीय असन्तुलन भी हमारे लिए भयावह साबित होगा।

प्रकृति के प्रांगण में पलते जीवन की विडम्बना यह होगी कि वह अपनी पृथ्वी माँ का होकर भी उसका नहीं हो सकेगा। और रही बात आनंद की तो डेटा संसार तो एक आकर्षक, लुभावनी और अकेलेपन के भयावह नर्क में डालनेवाली आभासी दुनिया है। यहाँ तो सब कुछ आभासी है। क्योंकि इसमें हमारी शारीरिक उपस्थिति नहीं है। केवल भास है, भान नहीं। अतः आनन्द की प्राप्ति तो यहाँ संभव ही नहीं है। इसलिए हम देख रहे हैं कि इस आभासी दुनिया के दुष्प्रभावों से आत्महत्या, मोटापा और तनावपूर्ण जीवन हमारा चिरसंगी होता जा रहा है। पूर्व में हमारी समस्याएँ अकाल, शारीरिक बीमारियाँ और मृत्यु का भय था जो दिन-ब-दिन बढ़ती डेटावादी ताकतों के बल के चलते हमारी सूची से खिसक रही है।

यहाँ इस पर ध्यान दिए जाने की पूरी जरूरत है डेटा की ताकत से उपजी तकनीक दरअस्ल जो सहजता एवं सरलता हमें दे रही है, वह हमारे ऐन्द्रिक बोध में इजाफा भर है। इतना ही नहीं प्रौद्योगिकीय नियतिवाद के चलते प्रकृति के साथ हमारा जो मातृत्व का रिश्ता था, अब वह हिंसा और अन्तहीन शोषण में बदलता जा रहा है, जबकि नवीन अनुसंधानों से यह साबित हो चुका है कि मनुष्य मूलतः एक हिंसक प्राणी नहीं है और न ही वह एक मशीन है। यह डेटावाद मनुष्य को मशीन में रूपान्तरित कर, उसे उसके मूल से च्युत कर रहा है।

इस संदर्भ में हमें ध्यान यह रखना है कि डेटा और तकनीक को हम अपने जीवन में वहीं तक रखें, जहाँ तक वे हमारे जीवन का पोषण करते हुए

उसे सरल एवं सहज बनाए रखे। जब वे हमारे जीवन को विघटित करने लगे, तो उस स्थिति में वह हमें स्वीकार्य नहीं है। और फिर प्रकृति के साथ तो जीवन का रिश्ता ही नहीं रहेगा, ऐसे में क्या यह जीवन में पल रहे जीवन को नष्ट करना नहीं होगा ?

क्योंकि मनुष्य एक चेतन प्राणी है और अस्तित्व के विभिन्न आयामों के साथ वह अपनी ऊर्जा के बल पर संवाद करने में सक्षम हैं। अतः वह जीवन विकास की प्रक्रिया में हस्तक्षेप भी कर सकता है। ऐसे में हम डेटावाद को उस हद तक स्वीकार करेंगे जहाँ तक वह हमारे संवेदनात्मक विकास के जरीये अस्तित्व के साथ संवाद की प्रक्रिया को और ज्यादा सजग और गंभीर बनाए रखने में सहायक बने, लेकिन साथ ही हमें इसकी खामियों को भी ध्यान में रखना होगा जो मनुष्य के लिए विनाशकारी साबित हो सकती है या जिसका खमियाजा मनुष्यता को उठाना पड़ सकता है।

हमेशा की तरह इस अंक में नौ लेख, उपन्यास अंश, दो कहानियाँ और तीन कवियों की कविताओं के साथ तीन पुस्तकों की समीक्षाएँ भी हैं। हम आभारी हैं उर्दू अदब के मर्मज्ञ शीन काफ़ निज़ाम के जिन्होंने हमारे आग्रह पर उर्दू अदब के नायाब शाइर मीराजी की नज़मों का हिन्दी अनुवाद हमारे पाठकों के लिए उपलब्ध करवाया।

हमारे हर अंक में हमारी पूरजोर कोशिश रहती है कि उपलब्ध सामग्री को बेहतर से बेहतर ढंग से आपके लिए प्रस्तुत किया जाए। आप सब के सहयोग से ऐसा करने में हमें थोड़ी सफलता भी मिल रही है। आपका संवाद और सहयोग ही हमारी असली ताकत है। नये साल की शुभकामनाओं के साथ—

— ब्रजरतन जोशी





## धर्मवीर भारती : साँस की कलम का लेखक

गंगाशरण सिंह

माखनलाल चतुर्वेदी ने धर्मवीर भारती के कहानी संग्रह की भूमिका में लिखा था कि *भारती घास की कलम से नहीं, साँस की कलम से लिखते हैं।*

जब आप धर्मवीर भारती के समग्र लेखन पर नज़र डालते हैं, तो उनके लिए कही गई माखन दादा की ये पंक्तियाँ पूर्णतया प्रासंगिक लगने लगती हैं। धर्मवीर भारती की बहुआयामी रचनात्मकता के इतने छोर हैं कि यदि उनके समग्र लेखन का अवलोकन करने बैठें। तो सहसा विश्वास ही नहीं होता कि किसी एक व्यक्ति के लिये अपने जीवनकाल में इतना सब कर पाना कैसे सम्भव हो सकता है। वह भी तब जबकि उसके जीवन के अधिकांश सक्रिय वर्ष एक पत्रिका के सम्पादन की भेंट चढ़ गए हों! धर्मवीर भारती का उदात्त रचनाकर्म उन्हें काल और विधा की सीमाओं से ऊपर एक ऐसे मकाम पर ले जाता है जहाँ पहुँचने का स्वप्न हर रचनाकार देखता है।

*गुनाहों का देवता* भारती जी की सबसे चर्चित रचना है। यह उपन्यास जितना सकारात्मक कारणों से चर्चित रहा उतना ही विवादों के कारण। कुछ विद्वानों

*उन दिनों धर्मयुग में उनका एक नियमित स्तम्भ होता था- शब्दिता। पत्रिका के पुराने पाठक आज भी बताते हैं कि अंक हाथ में आते ही सबसे पहले वे भारती का यह स्तम्भ पढ़ते थे और फिर कहानियों या धारावाहिक उपन्यासों का रुख करते थे। देश, विदेश की किसी भी विशिष्ट किताब, शहर या लेखक पर केन्द्रित उनके इन आलेखों को पढ़कर कई पीढ़ियाँ समृद्ध हुई हैं।*

द्वारा सिरे से खारिज़ किये जाने के बावजूद अब तक हुए सौ से अधिक संस्करण इस उपन्यास की सार्वकालिक लोकप्रियता की कहानी खुद कहते हैं और कुछेक नकारात्मक प्रतिक्रियाओं के बावजूद यह किताब आज भी सबसे ज्यादा बिकने वाली चार शीर्ष किताबों में शामिल है। प्रौढ़ावस्था की दहलीज़ पर खड़े तमाम पाठक स्वीकार करते हैं कि उनके किशोरावस्था के दिनों में ये किताब सदैव सिरहाने रहा करती थी। रही बात भारती की, तो अपने इस पहले उपन्यास की कमजोरियों और अपरिपक्वता को वे पुस्तक के आरम्भ में स्वयं स्वीकार करते हैं।

भारती के इस उपन्यास के ठीक विपरीत धरातल पर खड़ा है उनका दूसरा और अंतिम उपन्यास- *सूरज का सातवाँ घोड़ा*। हिन्दी साहित्य में प्रयोगात्मक स्तर पर जो उपन्यास लिखे गए हैं उनमें सबसे पहले *सूरज का सातवाँ घोड़ा* की चर्चा

होती है क्योंकि भारती ने इस उपन्यास के कहन हेतु सर्वथा नए किस्म की भावभूमि और अनूठे शिल्प का सृजन किया था।

छठे दशक में धर्मयुग के सम्पादक का निमंत्रण आने तक उनके खाते में कई कहानी संग्रह, काव्य नाटक अंधा युग और खण्डकाव्य कनुप्रिया सहित कई चर्चित कविता संग्रह उनके खाते में दर्ज हो चुके थे। महाभारत के अन्तिम दिन की घटनाओं पर आधारित अंधायुग को यदि हम गहन वैचारिकता और मानवीय मूल्यों की दृष्टि से देखें तो संभवतः यह उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। सामान्य पाठकों के साथ ही साहित्य जगत् के तमाम आलोचकों और विद्वानों ने इसे सराहा है।

अंधायुग लिखने के बाद भी कहीं न कहीं उनके जेह में एक असंतोष बना रहा कि शायद कुछ उनसे छूट गया है और कनुप्रिया के अंतिम अंशों में इस अधूरेपन का अंत करने के साथ ही वे संतुष्ट हो पाए थे।

धर्मवीर भारती की कुछ रचनाएँ पाठकों में इतनी प्रसिद्ध हुई कि ज्यादातर समय उन्हीं पर चर्चाएँ होती रहीं और उनकी अनेक श्रेष्ठ रचनाओं पर सम्यक् परिचर्चा और संवाद न हो सका। उदाहरण स्वरूप सबसे पहले उनकी कहानियाँ याद आती हैं। गुल की बन्नो का शुमार निस्संदेह हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों में होता रहा है और लगभग हर प्रतिनिधि कहानी संग्रह में ये शामिल होती रहीं किन्तु बंद गली का आखिरी जैसी कई कहानियाँ उनके विशिष्ट प्रशंसकों और पाठकों तक ही सीमित रह गईं। साथ ही आरम्भिक कहानी संग्रह भी बरसों अनुपलब्ध रहे। भारती की मृत्यु के बाद उनकी सहधर्मिणी पुष्पा भारती ने उनकी समस्त कहानियों को एकत्र कर उनकी सम्पूर्ण कहानियों का एक संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराया।

1960 में भारती टाइम्स समूह के आमंत्रण को स्वीकार कर मुम्बई आये और यहीं से धर्मयुग के सम्पादक के रूप में एक नई और युगांतरकारी भूमिका का सूत्रपात हुआ। उनके कुशल नेतृत्व में धर्मयुग ने सर्वथा नई ऊँचाइयों को छुआ और फिर एक समय ऐसा भी आया जब इस पत्रिका की बिक्री ने लाखों प्रतियों की संख्या

पार कर ली। सत्तर और अस्सी के दशक के अनेक महत्त्वपूर्ण लेखकों, कवियों और शायरों को उनके आरंभिक दिनों में भारती का स्नेह और प्रोत्साहन मिला। धर्मयुग की गुणवत्ता और पूरे देश में उसकी पहुँच का ये आलम था कि इस पत्रिका में छपते ही कोई भी नवोदित रचनाकार रातोंरात एक चर्चित नाम बन जाया करता था।

आज हमारे समय के कई प्रतिष्ठित लेखक धर्मयुग में प्रकाशित अपनी रचनाओं के कारण ही जाने गए। भारती टाइम्स समूह से लम्बे अरसे तक जुड़े रहे। इन दिनों नवनीत पत्रिका के यशस्वी एक सम्पादक के रूप में कार्यरत विश्वनाथ सचदेव ने एक वार्तालाप में एक आवश्यक संयोग की तरफ ध्यान दिलाया कि धर्मवीर भारती के समय धर्मयुग में अपने पत्रकारिता कैरियर की शुरुआत करने वाले ज्यादातर पत्रकार आगे जाकर बड़े सम्पादक बने। इस पत्रिका ने उनके संपादकत्व में ऐसे कई कीर्त्तिमान बनाये हैं जिनके आसपास क्या, बहुत दूर-दूर तक कभी कोई अन्य पत्रिका न पहुँच सकी। उस समय के पाठक बताते हैं कि पत्रिका का कोई भी नया अंक ज्यों ही घर पहुँचता था, सारे सदस्यों में छीना झपटी मच जाती थी। इन संस्मरणों के आधार पर जब पाठकों से कुछ प्रश्न किये गए तो लोगों ने बताया कि धर्मयुग मात्र साहित्यिक पत्रिका नहीं थी। उसमें फ़िल्म और क्रिकेट जैसे लोकप्रिय विषयों पर भी चुनिन्दा सामग्री होती थी और यही कारण था कि हर आयुवर्ग के पाठक उसके दीवाने थे।

तनावपूर्ण और कठिन ज़िम्मेदारियों वाली इस भूमिका के चलते भारती के लेखन पर असर पड़ना ही था। उनके सक्रिय जीवन की लगभग एक चौथाई सदी ऐसी गुज़री जब किसी कविता संग्रह, नाटक या उपन्यास का सृजन उनकी कलम से न हो सका। हालाँकि यह मान लेना भी नितान्त अनुचित है कि इन वर्षों में भारती की लेखनी पूरी तरह थम गई थी। इस अवधि में उन्होंने

देश विदेश की जितनी महत्त्वपूर्ण यात्राएँ की, उन यात्राओं के संस्मरण का एक बेहतरीन संग्रह वाणी प्रकाशन से *यात्रा चक्र* नाम से प्रकाशित हुआ। साहित्य, कला और संस्कृति को समर्पित विभिन्न हस्ताक्षरों पर केन्द्रित कुछ चेहरे कुछ चिन्तन पढ़कर उनके प्रौढ़, परिपक्व और सरस लेखन का सहज अनुभव किया जा सकता है। उन दिनों धर्मयुग में उनका एक नियमित स्तम्भ होता था—*शब्दिता*। पत्रिका के पुराने पाठक आज भी बताते हैं कि अंक हाथ में आते ही सबसे पहले वे भारती का यह स्तम्भ पढ़ते थे और फिर कहानियों या धारावाहिक उपन्यासों का रुख करते थे। देश, विदेश की किसी भी विशिष्ट किताब, शहर या लेखक पर केन्द्रित उनके इन आलेखों को पढ़कर कई पीढ़ियाँ समृद्ध हुई हैं। इन समस्त आलेखों का संग्रह कालांतर में वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित *शब्दिता* में हुआ।

धर्मवीर भारती की संगिनी पुष्पा भारती उन्हें याद करते हुए बड़े अनुराग से बताती हैं कि 'मैं भारती से प्रायः यह शिकायत किया करती थी कि *धर्मयुग* के रूप में अच्छी सौतन आपने मेरे सिर बाँध दी है जिससे निस्तार नहीं।' इन चुलबुली स्मृतियों के साथ ही वे पूरी गंभीरता से यह भी बताती हैं कि अनेक सहायक संपादकों और स्वयं पुष्पा जी द्वारा स्वीकृत होने के बाद भी हर कहानी भारती जी की नज़रों से गुज़र कर ही प्रकाशित होती थी। संभवतः उनकी यही ज़िद, लगन और प्रतिबद्धता थी, जिसने एक पत्रिका को शिखर पर पहुँचाया। पुष्पा भारती का ये कहना कि *धर्मयुग* को उनकी तमाम बहुचर्चित रचनाओं के समानांतर रखा जाना चाहिए। सबसे ज़्यादा समय लेने वाला *धर्मयुग* भी उनकी महत्त्वपूर्ण और कालजयी रचना है' पूरी तरह अर्थवान प्रतीत होता है।

*धर्मयुग* के सम्पादन के दौरान बीते पचीस तीस वर्षों के कालखण्ड में भारती का कोई कविता संग्रह भले ही न आया हो किन्तु ऐसा भी नहीं था कि उन्होंने इन

बरसों में कविताएँ बिल्कुल नहीं लिखीं। छिटपुट ही सही किन्तु कविताएँ लिखी जाती रहीं और *धर्मयुग* से सेवानिवृत्त होने के बाद उनकी इन अप्रकाशित कविताओं का एक यादगार संग्रह वाणी प्रकाशन से आया जिसका नाम था *सपना अभी भी*। स्मृति शेष होने से पूर्व यही उनका अन्तिम प्रकाशित कविता संग्रह रहा जिसे प्रतिष्ठित व्यास सम्मान भी प्राप्त हुआ था।

धर्मवीर भारती स्वयं हिन्दी के रचनाकार थे किन्तु अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे उत्कृष्ट साहित्य पर भी सदैव नज़र रखते थे। सिद्ध साहित्य पर तो उनके द्वारा किया गया कार्य अपनी प्रामाणिकता की साक्षी स्वयं ही देता है। बांग्ला सहित अन्य भाषाओं की अनेक बेहतरीन रचनाओं के अनुवाद धर्मयुग में लगातार छपते थे। विमल मित्र के कई बाँग्ला उपन्यास *धर्मयुग* में प्रकाशित होने के कारण हिन्दी पाठकों तक पहुँच सके और धीरे-धीरे हिन्दी के पाठकों ने उन्हें जैसे इसी भाषा का लेखक मान लिया। बांग्लादेश मुक्ति संग्राम के समय धर्मवीर भारती ने इस देश का दौरा किया और एक प्रभावी रचनाकार की हैसियत से बांग्लादेश के नागरिकों के लिए हरसंभव प्रयास करते रहे। वे न सिर्फ़ एक बड़े लेखक बल्कि एक स्वप्नद्रष्टा एवं सजग, सचेत विचारक भी थे। उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक अवदान इतना बड़ा है कि समकालीन रचनाधर्मिता की हर परिचर्चा उनके जिक्र के बग़ैर अधूरी रहेगी।

सम्पर्क : फ्लैट नं. 11, सेकेण्ड फ्लोर,  
दुर्गा निवास, ताड़वाड़ी,  
अन्नपूर्ण टॉवर के सामने,  
अम्बरनाथ पूर्व, ठाणे- 42/501, मो.  
9833885952

## रघुवीर सहाय : आज

प्रयाग शुक्ल

रघुवीर सहाय उन कवियों में से हैं जिनकी तैयार रहती है, और जिस तरह प्रायः वह अपनी आलोचना कविता और जिन के विचार, हर काल के लिए प्रासंगिक बने रहते हैं। निश्चय ही वह आज के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। उनके यहाँ निजी और सार्वजनिक, सामाजिक और राजनीतिक, एक-दूसरे से बहुत दूर के नहीं हैं और जिनकी भाषा भी किसी काल की सीमा में घिरी हुई नहीं लगती है। लगता तो यही है कि सुभद्राकुमारी चौहान की तरह रघुवीर सहाय की कविता भी ऐसी है, जो हिन्दी की दुनिया में जब भी सामने आएगी, ताजा लगेगी। डेटेड नहीं। वह अपने को और अन्यो को एक साथ संबोधित है। संबोधन का यह गुण, आज के पाठकों को तो अपना लगता ही है, भविष्य के पाठकों को भी अपना ही लगेगा- यही मानने का मन करता है। उनका कवि-मन हमेशा अपने को वृहत्तर समाज के बीच रखकर देखता-सोचता है और एकांत को भी वह इसलिए जरूरी मानता है कि उसके छिनने से, मानो आजादी भी छिन जाती है। विषयवस्तु(ओं) के मामले में भी, जितने प्रश्न और मामले इस समय उपस्थित हैं, वे सब उनकी कविता में हैं। राज्य सत्ता, जिस तरह नागरिकों पर कई तरह के और गैर जरूरी अंकुश लगाने के लिए

**वे सुंदर को सराहने  
और उसी को 'उगाने'  
की चेष्टा करने वाले  
लेखक-कवि ( रहे )  
हैं। निजी जीवन में भी  
उनको हमेशा अंदर  
की, रचनात्मक की,  
तलाश करते हुए ही  
देखा है। गाँधी,  
जयप्रकाश, लोहिया  
की ओर उन्होंने देखा  
है। जयप्रकाश और  
लोहिया का संग-साथ  
उन्हें मिला था।  
वैचारिकी दूसरों की  
और अपनी भी, हमेशा  
उनके साथ रही, पर  
रचना तो रचना है, वह  
अधिक खुला और  
विस्तृत आकाश  
चाहती ह**

जरा सा भी बरदाश्त नहीं कर पाती, उन सबको वह बहुत अच्छी तरह पहचानते, और व्यक्त करते रहे हैं। उनकी कविता रामदास हो या हँसो-हँसो जल्दी हँसो हो या आनेवाला खतरा या आने वाला कल हो- उनमें आज, विगत-आगत-वर्तमान एक साथ झलक उठते हैं। आने वाला कल की दो पंक्तियाँ उनकी दृष्टि और भविष्य-दृष्टि का कितनी बखूबी के साथ बयान करती हैं -

‘ हर थका चेहरा तुम गौर से देखना  
उसको वह छिपा कहीं होगा गया  
कल  
और आने वाला कल भी कहीं कहीं  
होगा ’

रघुवीरजी की कविता की बड़ी विशेषता वही है जो हमारे संत कवियों से लगाकर आधुनिक काल के सुभद्राजी और भवानीप्रसाद मिश्र, निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन की रही है- किसी अनुभव का इतना पका हुआ बखान या बयान कि वह अपनी सीधी-साधी कहन शैली में बड़ी गहराई में मर्म को स्पर्श करे,

और जब भी उसको पढ़ा-बोला-सुना- सुनाया-गाया-

बजाया जाये, उसकी कई और अर्थ छटाएँ झलक उठें। उनकी कविताएँ कंठ में बस जाने वाली हैं, और आज भी हिन्दी कविता के पाठक को वह सहज ही याद आ जाती है। *पानी* कविता को ही लीजिए जिसकी पंक्तियाँ किसी भी जल-संकट का ध्यान आते ही भीतर गूँजने लगती हैं—

बच्चा बच्चा हिन्दुस्तानी  
मांग रहा है पानी पानी  
हमको पानी नहीं दिया  
तो हमको मानी नहीं दिया...

वह बहुत कम शब्दों में, जिस अनुभव को, या उसके कई स्तरों को रखते हैं, वह सब एक 'मूर्तिशिल्प' हो उठता है : तराशा हुआ, प्रेम से रखा हुआ अपने को मूर्त करता, पर यह भी बताता हुआ कि उसे देखना, एक बार में समाप्त हो जाने वाला नहीं है, उसकी ओर बार-बार लौटा जा सकेगा।

यह आश्वासन भी है, और उनकी कविता की आकांक्षा भी है कि वह साथ रहे अपने पढ़ने वालों के, आज भी कल भी।

रघुवीर जी के साथ बहुत रहा हूँ। उनके साथ काम किया है, *दिनमान* में कई बरस। थोड़े समय के लिए नवभारत टाइम्स में भी। उनके साथ के कई लेखकों, कलाकारों से मिला हूँ। बातें की हैं। सहमत-असहमत हुआ हूँ। उनका बहुतेरा गद्य भी पढ़ा है। रोज-रोज उन्हें देखा है। कुछेक बार उनके साथ कोई फ़िल्म देखी है। प्रदर्शनी या नाटक देखने गया हूँ और हर बार यह पाया है कि वे उसकी परख अपनी तरह से कर रहे हैं। उस पर चर्चा कर रहे हैं और चर्चा में उसके मूल मर्म, कथन आदि की शिनाख्त करना-करवाना चाह रहे हैं। किसी विवरण, किसी डिटेल्, किसी इमेज पर उनकी जो नज़र गयी है, उसे लेकर भी *उत्साहित* हो रहे हैं, मानो उन्हें कोई कुंजी मिल गयी है, उस कृति के *रहस्यों* में पहुँचने की। हाँ, उनकी कविताएँ भले ही कितनी सीधी और

बूझ ली गयी लगे, पर रघुवीर जी का आग्रह चीजों के बहुस्तरीय अर्थों का ही रहा है। और सूक्ष्मताओं को, आवरण के भीतर की चीजों को, उन्होंने समझने-बूझने के स्तर पर ज़रूरी माना है। कृति की अपनी एक दुनिया होती है, और सरल अर्थों वाली लगकर भी उसकी *सरलता* को ग्रहण कर ही छुट्टी ना पा ली जाए, ऐसा मानते हुए वे दिखाई पड़ते थे।

आज सोचता हूँ तो लगता है रघुवीर जी का अन्याय के प्रति, विषमताओं के प्रति, राजनीतिक आचरण की क्षुद्रताओं के प्रति जो करुणा मिश्रित क्रोध या वही उनकी कविताओं की भी पूंजी और कुंजी है। क्रोध में अगर मानवीय करुणा न मिली हुई हो, मानवीय न्याय-बोध, और मूल्यबोध न मिला हो, तो उसकी परिणति कुछ देर बाद *फ़ुस्स* हो जाती है— उनकी रचनाएँ भी यही कहती हैं।

भारतीय समाज (या समाजों) में स्त्री की दुनिया के प्रति आमतौर पर जो *दकियानूसी* रही है, उसके शोषण के जो जाने-अनजाने रूप रहे हैं उसका प्रत्याख्यान अपनी कविताओं, कहानियों, निबंधों में उन्होंने हमेशा संवेदना के एक ऊँचे, गहरे धरातल पर किया है।

गद्य कविता के लिए कितना ज़रूरी है, और गद्य के लिए कविता, यह वे कभी भूलते नहीं हैं; और आज उनकी इस दृष्टि की प्रासंगिकता को हम तब और अधिक समझ पाते हैं, जब यह देखते हैं कि चाहे सोशल मीडिया हो या प्रिन्ट मीडिया या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, वहाँ यह दृष्टि प्रायः गायब है, इसलिए एक सनसनी, उत्तेजना और बौखलाहट का वातावरण तो बहुत बनाया जाता है, पर गद्य मिश्रित कविता या कविता मिश्रित गद्य वाले तत्त्व जो एक दूरगामी, अधिक टिकाऊ समझ विकसित कर पाते हैं, यथार्थ की, उसका अभाव हो रहा है।

इस अर्थ में भी रघुवीर जी की ओर देखना, आज बहुत ज़रूरी हो गया है। उनकी गजब की 'धीरता'

की सराहना भी मैंने हमेशा की है। वे सुंदर को सराहने और उसी को 'उगाने' की चेष्टा करने वाले लेखक-कवि (रहे) हैं। निजी जीवन में भी उनको हमेशा अंदर की, रचनात्मक की, तलाश करते हुए ही देखा है। गाँधी, जयप्रकाश, लोहिया की ओर उन्होंने देखा है। जयप्रकाश और लोहिया का संग-साथ उन्हें मिला था। वैचारिकी दूसरों की और अपनी भी, हमेशा उनके साथ रही, पर रचना तो रचना है, वह अधिक खुला और विस्तृत आकाश चाहती है- यथार्थ को भेदने, उसे पाने, उसका संधान करने के लिए; वह अपनी तरफ से ही आगे बढ़ती है। उसका भरोसा और विश्वास उन्हें था- तभी उनकी डर कविता, जिसमें हमारे समाज में, अंग्रेजी की स्थिति को लेकर एक मार्मिक टिप्पणी है (बिना अंग्रेजी भाषा मात्र का विरोध किये), वह टिप्पणी आज और भी अधिक प्रासंगिक हो उठी है। ऐसी ही उनकी अन्य कई रचनाएँ हैं- गद्य-पद्य, दोनों में, जिन्हें पढ़ते हुए लगता है कि कितना अच्छा है कि रघुवीरजी हमारे साथ हैं।

जिनका इस बात में कुछ भरोसा है कि कविताएँ एक संबल हुआ करती हैं, एक नैतिक बल, हर काल में चीजों को समझने-बूझने-परखने का; वे पाएँगे कि अन्य समर्थ, जीवन-दर्शी, समाज-दर्शी और मनुष्य की हर काल की दशा-दुर्दशा में, उसकी सहयोगिनी बनी रहने वाली कविता की तरह, रघुवीर सहाय की कविता भी आज हमारे साथ खड़ी है।

सम्पर्क : एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज,

सेक्टर-93ए, नोएडा-201304

मो. 9810973590



## पावनता का पुनर्वास और हमारा समय

रमेशचन्द्र शाह

1. हमारी बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अन्तर्मुखता में आद्य रूपात्मक हैं और बुहिर्मुखता में नाम-रूपात्मक। इसीलिए मनुष्य को अपनी प्रकृति के किसी भी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, पारमार्थिक और लौकिक - दोनों के बीच सामंजस्य साधते हुए चलना है।

- आनन्द कुमार गोस्वामी

2. रोम नास्तिकता और भौतिकवाद की ही खुराक पर पला-पुसा विशालकाय जन्तु है, जो अपने अलावा और किसी को नहीं पूजता। दूसरी ओर इजराइल है- मजहबी जन्तु-उतना ही विशालकाय। न तो पहला, न वह दूसरा जन्तु ही हमें प्रिय लग सकता है। जन्तु तो जन्तु ही है चाहे जितना विशालकाय हो। विशालकाय जन्तु सदैव और लाजिमी तौर पर हमें बिदकाने वाला ही होता है।

- सिमोन वेल

3. यच्चाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयाति यस्यास्ति संततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

- लिंग पुराण 1/76/396

**भारतीय चिंतन में  
तार्किकता और  
रहस्यानुभूति- लॉजिक  
और मिस्टिसिज़्म का  
ऐसा अनोखा -अत्यन्त  
दुर्लभ मेल और सामंजस्य।  
अकारण नहीं है यह, कि  
विरुद्धों के सामंजस्य की  
पहली ही सैद्धान्तिक  
स्थापनाएँ, प्राचीन  
भारतीय चिंतन में प्रगट हो  
गई थीं; यह प्रतीति भी,  
कि यह विरुद्धों का  
सामंजस्य ही विश्व-  
ब्रह्माण्ड की चरम-परम  
आधारभित्ति है, नींव है।**

अद्वैत वेदान्त की भारतीय परम्परा में ज्ञान अपने सर्वोच्च अर्थ में आत्मज्ञान होता है : एक ऐसा स्वतःस्फूर्त तत्काल-अनुभूत यथार्थ जिसमें ज्ञाता और ज्ञात वस्तु के बीच का द्वैत विलीन हो जाता है। किन्तु 'ज्ञान' की पाश्चात्य अवधारणा में ही कुछ ऐसी प्रवृत्ति बद्धमूल है, जो अन्य को, ममेतर दूसरे को एक वस्तु में बदले बिना, और इस तरह उस पर कब्जा किये बिना रह ही नहीं सकती। ज्ञान इस तरह चराचर विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण का अभियान बन जाता है- एक ऐसा अभियान और एक ऐसे निर्बाध हस्तक्षेप की दुर्निवार्य प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत इस चराचर जगत् की वस्तुओं-विभूतियों में तथा तमाम अन्य सांस्कृतिक-धार्मिक परम्पराओं में कुछ भी ऐसा सारतत्त्व बचे रहने की गुंजाइश ही जड़ से मिटा दी जाती है, जिस पर कब्जा न किया जा सके, समूची चराचर सृष्टि ही एक रहस्यरिक्त सूने सपाट, निरे उपभोग सामग्री में परिणत हो जाए। इसी तरह आस्था या धर्म-विश्वास की भी उनकी अवधारणा में कुछ ऐसा है, जो अपनी हस्ती के लिए उस इनफिडेल या काफिर के अस्तित्व को अनिवार्य पाता है जो उसकी आस्था यानी



धर्मविश्वास की परिधि से बाहर है और जो इसीलिए न केवल मुक्ति की पात्रता से सर्वथा वंचित है, बल्कि निरवधि नरकवास के लिए जन्मना अभिशप्त एक निहायत ही गैर, विधर्मी और शाश्वत परायेपन से ग्रसित सत्ता है। ऐसी वस्तुस्थिति में हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि आज के इस पश्चिमीकृत विश्व में स्वयं अनुभव करने और जानने के किसी दूसरे मार्ग की क्या कोई संभावना अभी भी बची है जो इस सृष्टि की विभूतिमत्ता-सत्त्वमयता को यथावत् ग्रहण कर सके- बिना उसका वस्तुकरण किये- अर्थात् बिना उसे महज उपभोग्य लक्ष्य की तरह बरते इस्तेमाल किये ?

हममें से कइयों के मन में यह सवाल भी उठ सकता है कि क्या संस्कृत भाषा में कोई ऐसा शब्द है जो *सैक्रेड* बनाम *प्रोफेन* जैसे परस्पर विरुद्ध और ध्रुवीकृत लक्ष्यार्थों की अवधारणा के ही समकक्ष-समतुल्य - उन्हीं से उपजा हुआ और उन्हीं को पुष्ट करने वाला पर्याय हो ? जैसाकि कई मर्मज्ञों ने रेखांकित किया है इस खूबी को- संस्कृत ने प्रारम्भ से ही अन्य आरोपीय भाषाओं में व्याप्त उस प्रवृत्ति को- जिसे हम *रिप्रजेंटेशनल* और *ऑब्जेक्टिफाइंग* प्रवृत्ति कहते हैं- उसका प्रतिरोध अपनी संरचना के भीतर ही विकसित किया है। संभवतः भारतीय दर्शन और धर्म की विलक्षणता ही उसकी इसी सहज सामर्थ्य में निहित है- वस्तुकरण और निर्वस्तुकरण को एकसाथ साधने की सजगता में। मूर्ति को सिराने का मुहूर्त मूर्ति की प्रतिष्ठा के मुहूर्त से नितान्त अलग-थलग और दूर नहीं होता। दोनों समान रूप से सहज अनिवार्य और उत्सवी गति-विधियाँ हैं। बरसों पूर्व कभी बेही हैमेन की एक पुस्तक मेरे पढ़ने में आई थी जो इसी वैशिष्ट्य को लक्षित परिभाषित करती थी। उन्हीं के शब्दों में- तर्क के प्रति यह भारतीय दृष्टिकोण- जो प्राचीन और अर्वाचीन पश्चिम के दृष्टिकोण से इस ऋदर भिन्न है, उसी की परिणति है- भारतीय चिंतन में तार्किकता और रहस्यानुभूति- *लॉजिक और मिस्टिसिज़्म* का ऐसा अनोखा -अत्यन्त दुर्लभ मेल और सामंजस्य। अकारण नहीं है

यह, कि विरुद्धों के सामंजस्य की पहली ही सैद्धान्तिक स्थापनाएँ, प्राचीन भारतीय चिंतन में प्रगट हो गई थीं; यह प्रतीति भी, कि यह विरुद्धों का सामंजस्य ही विश्व-ब्रह्माण्ड की चरम-परम आधारभित्ति है, नींव है। यह भी ध्यातव्य है कि मनुष्य की अपूर्णता का और पूर्णता की उसकी अभीप्सा का उत्तर भी ईसाइयत भविष्य के किसी सुदूर बिन्दु पर खोजती है। मनुष्य की बेहतरी का उसका सफा और दावा उस सुदूर भविष्य पर ही टिका है। स्वर्ग से बहिष्कृत होने से पूर्व की अच्युतावस्था को वहाँ मानवी विकास के संदर्भ में बिल्कुल भी विचारणीय या महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया : सिवाय विलियम ब्लेक और विलियम येट्स सरीखे कवियों के यहाँ- जिन्हें अपनी सभ्यता-संस्कृति की उक्त कमी की भरपाई के लिए अपनी ओर से नई पूरक व्याख्याएँ और पुराण-संकल्पनाएँ गढ़नी पड़ीं। दूसरी ओर - तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो वैदान्तिक हिन्दुत्व आत्मन्-ब्रह्मन् की अपनी केन्द्रीय अनुभूति के बूते मूलगामी निर्दोषिता उस आदर्श एकता पर ही आधारित है जो किसी अतीत या भविष्य की दूरारूढ़ संकल्पना पर नहीं, बल्कि उस सदा उपस्थित, अनुभवसिद्ध अनुभूति और साक्षात् अन्तःप्रमाण पर ही प्रतिष्ठित है जो, माया के आवरणों से भले बारम्बार आवृत होते रहें किन्तु जिन्हें कभी भी पूरी तरह मिटाया कभी नहीं जा सकता।

अब, जैसा कि इस व्याख्यान के आरम्भ में ही उद्धृत किये गए कुमारस्वामी के कथन से झलकता है, हमारा भारतीय भाव-बोध लौकिक और लोकातिक्रामी दोनों धरातलों पर एकसाथ सक्रिय रहा है- मानवीय अस्तित्व के ऐहिक और पारमार्थिक- *सैक्रेड* और *प्रोफेन* दोनों आयामों में समान रूप से क्रियाशील। निस्सन्देह, इनमें जो पारमार्थिक या लोकोत्तर आयाम है, बहुलौकिक आयाम के भंगुर और सीमाबद्ध पहलुओं को देखते हुए, तुलनात्मक दृष्टि से उच्चतर-श्रेष्ठतर है ही; किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि अपनी सारी सीमाओं और बन्धनों के बावजूद यह इहलोक उस लोकोत्तर पारमार्थिक विश्व

से कदापि पूर्णतः विच्छिन्न नहीं होता, बल्कि उससे गहरे कहीं जुड़ा हुआ और उसी से संपोषित होता है। उसका उद्धार, उसकी कृतार्थता सदैव संभाव्य रही आती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो आत्मसाक्षात्कार की पात्रता से वह कभी भी पूरी तरह वंचित नहीं किया जा सकता—किसी भी परिस्थिति में। मनुष्य का पुरुषार्थ कैसी भी परिस्थिति का अतिक्रमण कर सकता है। इस पुरुषार्थ और आत्म-साक्षात्कार के लिए उसके पास सर्वोच्च परमात्मा-सत्ता की अनुभूति तक पहुँचाने वाले तीन मार्ग सदैव खुले रहते हैं : ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्ति मार्ग। तीनों योग कहलाते हैं। भारतीय दर्शनों और धर्मों के पीछे जो चिन्तन सक्रिय रहा है,

वह संगणनात्मक (कैलकुलेटिव) से कहीं अधिक मननात्मक (मैडिटेटिव) रहा है। यहाँ हाइडेगर द्वारा प्रयुक्त शब्दावली सहज ही याद आती है क्योंकि मैडिटेटिव और कैलकुलेटिव विचार-पद्धतियों के बीच जो सुस्पष्ट विवेक इस शब्दावली में किया है उसने, वह

प्रस्तुत प्रसंग में एकदम प्रासंगिक, सटीक और सारगर्भित जान पड़ता है। विशेषकर, यदि उक्त तीनों मार्गों के मूलभूत सर्वनिष्ठ तत्त्व पर ध्यान दें तो आधुनिक युग के एक महाकवि और भारत के कहीं बहुत गहरे में भवित महाकवि विलियम येट्स ने अपने सुहृद् सखा पुरोहित स्वामी द्वारा अनूदित पातंजल योग की श्रद्धशहस्रद्वयद्वय श्रद्ध इत्यद्वय नामक पुस्तक की भूमिका में इसी 'योग' के बारे में जो अभिमत प्रकट किया है, उसे उद्धृत करना मुझे यहां प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है। येट्स की अंग्रेजी शब्दावली में वह अनुभव इस प्रकार व्यक्त हुआ है— The experience, accessible to all, who adopt a traditional technique and habit of life has become the central experience of Indian civilization.... that, wherein

all thoughts and all emotions expect their satisfaction and rest. अर्थात्, योग वह साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव है, जो उन सबके लिए सुलभ है, जो उसके अभ्यास की एक पारम्परिक जीवन्त प्रणाली अपना सकें। यह योग भारतीय सभ्यता का वह केन्द्रीय अनुभव है, जिसमें मानव के समस्त विचार और समस्त भाव-संवेग अपनी संपूर्ण संतुष्टि और विश्रान्ति उपलब्ध करने की संभावना के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं। योग की— अर्थात् पावनता के प्रत्यक्ष बोध की— यह समझ हममें से अनेक लोग यहाँ— अपने यत्किंचित् अनुभव के अन्तःप्रमाण का हवाला देते हुए कह सकते हैं, कि— सर्वथा सम्यक् और प्रामाणिक है।

**सभी अपने सगे-सम्बन्धियों  
सरीखे हमारे एकदम निकट और  
जीवन्त.... देवता जिन्हें हम बरतनों की  
तरह माँजते देखते थे अक्सर.... और  
विशेष अवसरों पर रोज़ से ज्यादा  
चमाचम....खुद अपनी तरह। वह बचपन  
का घर था, जिससे हम बहुत दूर छिटक  
गये हैं।**

अब, जहाँ तक हमारी आज की समसामयिक अवस्थिति का प्रश्न है, वह तथाकथित सेक्युलराइजेशन और डिसेक्रेलाइजेशन—अर्थात् पावनता और दिव्यता के बोध के पूर्ण विलोपन की अवस्थिति है। अनेकानेक इतिहासज्ञ, दार्शनिक और सामाजिक-धार्मिक

विचारक इस बारे में एकमत प्रतीत होते हैं कि मानव-इतिहास की यह एक अभूतपूर्व और सर्वथा निराली घटना है। कई विचारकों का यह भी मानना है कि इस घटना का उद्गम और क्रमिक विस्तार जूडियो क्रिश्चियन परम्पराओं में— यानी उनकी पूर्व प्रतिज्ञाओं में ही निहित है। बात को इस तरह न भी रखा जाय तो भी इतना तो समझ में आता ही है कि अपनी जड़ में यह पावन के लोप की समस्या मानव-जीव के सोचने को उसके होने से विच्छिन्न करके ही अपनी दिग्विजयी प्रगति का रथ हाँकने वाली पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की ही उपजाई हुई है। किंतु स्वयं भारत जैसे देश की सभ्यता भी जहाँ सुदूर अतीत में नहीं बल्कि ठेठ आज की तारीख में भी अतीत के महानतम योगियों-ज्ञानियों के समकक्ष अर्वाचीन

विभूतियाँ- महात्मा मंगतराम और निसर्गत महाराज सरीखी- लगातार साक्षात् हमारे बीच प्रकट होती रही हैं,- इस विश्वव्यापी संक्रामक से अछूते नहीं रहे स्वयं हमारे सबसे तेज तर्रार बुद्धिजीवियों की गतिविधियों से नित्यप्रति प्रकट हो रहा है कि हम कहाँ जा रहे हैं? मानना पड़ेगा कि मात्र परम्परागत शब्दावली का कवच ओढ़कर- जिसके अर्थ को हमने खुद अपने नये तप और अध्यवसाय के बलबूते नहीं कमाया - अपने को सुरक्षित समझ लेना आत्म-प्रवंचना ही होगी। हमें अपने पारंपरिक- पावनताबोध को आत्म-विज्ञान और परमात्मविज्ञान को भी- नए सिरे से अर्जित करते हुए आज की इस अभूतपूर्व धर्मगलानि के बीचोबीच उसके साथ सीधे संवाद का सूत्रपात करना होगा। हमें स्वयं श्री अरविन्द और जे.कृष्णमूर्ति सरीखे एक दूसरे से नितान्त भिन्न मनीषियों के भी कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन करना होगा - न केवल भारतीय परंपरा, प्रत्युत स्वयं पश्चिम की भी उस गुह्य आध्यात्मिक परंपरा के भी आलोक में - जिसे स्वयं पश्चिम की ही उस मजहबी परम्परा ने अवदमित और कुंठित कर दिया जिसे आल्डुअस हक्सले ने *थियोलाॉजिकल इम्पीरियलिज्म* का नाम दिया है। तभी -एक आमूलचूल टकराहट के भीतर से हमें स्वयं अपने आज के जीवन और आज की परिस्थिति-परिवेश में स्वयं अपनी तथा विश्वव्यापी परिस्थिति के बीचोबीच योग की संभावित भूमिका और संभावना का भी सही-सही अनुमान हो जाएगा। सवाल यह है कि विश्व इतिहास का यह जो दौर अभी चल रहा है- जो पूर्णतः पश्चिम की प्रगतिवादी विश्वदृष्टि और चमत्कारिक वैज्ञानिक तकनीकी उपलब्धियों से प्रेरित है- उसके बारे में हमारा वस्तुनिष्ठ आकलन क्या है? क्या हम मानव-जाति के तथाकथित विकास-क्रम की सबसे ऊँची लहर पर सवार हैं? किस अर्थ में, विकासवाद का सिद्धान्त आध्यात्मिक क्षेत्र पर लागू हो सकता है? मार्क्स का कम्युनिस्ट यूटोपिया यदि साधन और साध्य की अनर्थकारी बुनियादी विसंगति के चलते विफल हो चुका है तो क्या श्री अरविन्द का

अतिमानस के अवतरण का तथाकथित यूटोपिया उसकी जगह उसके बदले कृतकार्य हो सकता है? लक्ष्य तो सारे विपरीत नज़र आ रहे हैं; सम्पूर्ण मोहभंग और सम्पूर्ण नकारवाद (निहिलिज्म) का - सेम्युलरिज्म के नाम पर पृथ्वी के सम्पूर्ण निर्देवीकरण (desacralization) का दृश्य ही हमारी आँखों के समक्ष उजागर है। इस त्रासदी की विभीषिका को व्यक्त करें, तो पुरोधा कवि अज्ञेय के शब्दों में *देवता अब भी जलहरी को घेरे बैठे हैं/ पर, जलहरी में पानी सूख गया है/ देवता भी धीरे-धीरे सूख रहे हैं/ उनका पानी मर चुका है....* तो, निर्देवीकरण से ग्रस्त और पावनता के बोध से विरहित इस आधुनिक सभ्यता के मरुस्थल में अतिमानस के अवतरण की संभावना कहाँ दीखती है? हाइडेगर के विश्व-विश्रुत मर्मज्ञ स्व.प्रो.जे.एल. मेहता के शब्दों में - हम उस विरासत से पूरी तरह वंचित और बेदखल कर दिये गए हैं, जहाँ हम देवताओं की उपस्थिति महसूस करते थे। हम ऐसी दुनिया में पटक दिये गए हैं जिसमें पावन और प्रभासित्त जैसा कुछ भी शेष नहीं बचा। स्वयं आध्यात्मिकता का क्या अर्थ शेष रह जाता है, ऐसे परिवेश और युग में, जब सेक्यूलर अवधारणाएँ, जो स्वयं यूनानी-ईसाई इतिहास की प्रसूति हैं, सर्वत्र बेखटक अपनी सम्पूर्ण निरपेक्षता और स्वयंपर्याप्तता का दावा कर रही हैं?

क्या ये चिंताएँ हमारे अपने भारतीय जीवन-संदर्भ में कुछ अप्रासंगिक या अतिरेकी नहीं लग उठतीं? जब हम अपने बचपन के परिवेश को याद करते हैं, जहाँ दिन का आरंभ ही घर के देवताथान में सुनाई देती देवताओं को जगाने वाली घंटी की ध्वनि से होता था - उन देवताओं को, जो ठेठ स्थानीय से लेकर उच्चतम श्रेणी के विष्णु तथा उसके अवतार राम और कृष्ण और उनसे भी पहले शंकर महादेव और सारी देवियाँ- जगदम्बाएँ भी हुआ करती थीं- देवी-देवताओं का एक भरा-पूरा समूचा प्रजातंत्र- सबके अपने विशेष त्यौहार... पर्व-प्रसंग। सभी अपने सगे-सम्बन्धियों सरीखे हमारे एकदम निकट और जीवन्त.... देवता जिन्हें हम बरतनों की तरह

माँजते देखते थे अक्सर.... और विशेष अवसरों पर रोज़ से ज्यादा चमाचम....खुद अपनी तरह। वह बचपन का घर था, जिससे हम बहुत दूर छिटक गये हैं। किन्तु, न सही हम, हमारे भाई बहन ....और सगे-संबंधी तो आज अभी भी वह दिनचर्या निभा ही रहे हैं। क्या वहाँ जाने पर और स्मृति में ही नहीं, सचमुच भी वही उत्साही भाव, वही सामूहिक राग- येट्स के मुहावरे का emotion of multitude हम पर नहीं छा जाता? वैसा ही यहाँ भाव, बल्कि उसमें भी ज्यादा जीवन्त और प्रत्यक्ष अनुभव काशी या प्रयाग के कुम्भ मेले में या हरिद्वार में गंगा तट पर कभी भी नहीं जाग उठता? और यह मात्र स्मृति या उत्सवी भाव की ही बात नहीं हैं। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व की तो घटना है वह, जब हमने पांडुरंग शास्त्री आठवले द्वारा प्रवर्तित स्वाध्याय आन्दोलन की विस्मयकारी उपलब्धियों को भक्ति को, एक सामाजिक शक्ति के रूप में लाखों लोगों को अनुप्राणित करते स्वयं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा था- एक बार नहीं, तीन-तीन बार...और इस आंदोलन के प्रणेता आठवलेजी को हम आमंत्रित बुद्धिजीवियों के बीच अपने अनुभवों के बारे में नितान्त सहजआत्मीय और प्रभावशाली ढंग से बोलते देखा सुना था। .....यह लौह युग, यानी कलियुग...आठवले की वह आवाज” इसी क्षण भी मेरे कानों में गूँजने लगी है।- इस कलियुग से अधिक उपयुक्त समय हो ही नहीं सकता भक्तियोग को जीने बरतने के लिए - आठवले हमसे कह रहे थे।... भक्तियोग और गीता के कर्मयोग को। और वे यँही नहीं कह रहे थे। हमने स्वयं देखा था कई बस्तियों में जाकर, मिल-बतिया कर उन मछुवारों और दूसरे भी लोगों से, कि कैसा आमूल-चूल रूपान्तर घटित हो गया था उनके जीवन में कुछ ही बरसों के भीतर....., इस निहायत ही सामान्य और घरेलू से प्रतीत होते, मगर वस्तुतः असाधारण रूप से विरल विलक्षण कर्मयोगी पाण्डुरंग शास्त्री अठावलेजी की इस अनूठी कर्मयोगी पहल के फलस्वरूप। तभी तो कह रहे थे वे हम बुद्धिजीवियों से, कि...अरे

सतजुग या द्वापर होता तो मेरे जैसे आदमी को पूछता ही कौन? जरूरत ही क्यों होती लोगों को मेरी? मैं याज्ञवल्क्य से भी बहुत-बहुत अधिक भाग्यशाली हूँ-सच मानिये।

तो, वह निश्चय ही एक आश्वासनदायी अद्भुत अनुभव था हम बुद्धिजीवियों के लिए.....हमें अपने पुरखों की बुद्धिमत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण देने वाला। फिर क्यों हम उस प्रेरणादीप्त मनोदशा को - वहाँ से लौटने के बाद यथावत् कायम नहीं रख सके? क्यों फिर से स्वलित हो गए-उसी आत्मावसाद में? जैसे वह आँखों देखा यथार्थ नहीं, महज एक सपना रहा हो। आखिर हम सिर्फ हमारे मन पर पड़े संस्कार या स्मृतियाँ या बाल्यकालीन परिवेश तो हैं नहीं। हमारा जो वर्तमान समाज-परिवेश और समकालीन बौद्धिक वातावरण है, वही तो सबसे ज्यादा हमारी चेतना को प्रभावित करेगा। समाज के सबसे विचारप्रवण और शैक्षिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में अग्रणी लोग ही तो, जिनसे हमारा रोजाना का संग-साथ रहता है, वही तो हमारा परिवेश भी हैं : यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ स्वयं गीता इस कड़वी सच्चाई को स्पष्ट अभिव्यक्त करती है कि नहीं? श्रेष्ठजनों बौद्धिकों के बीच कैसा क्या संवाद चला करता है, वह भी हमारे ज्ञान और आचरण को निर्धारित करता है कि नहीं? इसी जीवन-यथार्थ की यथातथ्य समझ ही हमारे एक अत्यन्त प्रबुद्ध अग्रज के कथनानुसार यह मानने के लिए अति विवश करती है कि, -चूँकि यह पारस्परिक संवाद ही किसी कालखण्ड में एक समाज की मूल्य चेतना को निर्धारित और अभिव्यक्त करता है, इसीलिए हमें उसी के एक अंग-भाष्य-कर्म को अत्यन्त गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। प्रो. मेहता के शब्दों में-यह भाष्य-कर्म या कि ‘हर्मैन्नुटिकल एन्डीवर’ ही एकमात्र वह प्रभावी मार्ग और जरीया है जिसके बूते हम खुद अपनी परम्परा की आधार स्तंभ सरीखी कृतियों को उनमें अन्तर्निहित संजीवनी शक्ति को- और अर्थ-समृद्धि को फिर से अपने लिए उपलब्ध और कारगर बना सकते हैं।

संभव है, इसे एकमात्र मार्ग न भी माना जाय। परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि यह उन कई मार्गों में से एक मार्ग तो है ही, जो हमें आज के समय में आज के इस जटिल जीवन-संसार के लिए उस पावनता-बोध की थाती को फिर से उपलब्ध बना सकता है। एक दूसरा मार्ग श्रेष्ठतम (नए पुराने दोनों) कवियों की वाग्विभूति को स्वायत्त करना भी है। जिसका आधुनिक काल में एक अत्यंत श्रेष्ठ और मार्मिक उदाहरण दार्शनिक हाइडेगर द्वारा विख्यात जर्मन कवि *ह्योएल्डरलिन* के काव्य का मूल्यांकन है। भारत की परम्परा में दोनों प्रक्रियाओं को समान महत्त्व दिया जाता रहा

है: शब्द ब्रह्म की सारस्वत साधना एक तरफ, और ध्यानयोग की मौन गहन प्रक्रिया द्वारा चेतना के उन्नयन-रूपान्तरण की साधना दूसरी तरफ। तो हमारे जैसे घोर अन्तःसंघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व में पड़े हुए साहित्यकर्मी बौद्धिकों को जो भी जैसा भी प्रेरणादायी समाधान

इन दो समान रूप से हमें अपनी ओर खींचने वाली प्रवृत्तियों (योग-साधना और एक सारस्वत वाक्-साधना) के बीच चाहिए वह एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के विकास और परिपाक के स्तर पर ही चाहिये। हमने उच्चतम कविकर्म से मिल सकने वाले आलोक का उल्लेख भी अभी-अभी इसी सिलसिले में किया था। महान् कविता से मिल सकने वाला यह ज्ञान भी हममें पावनता-बोध को जगाने-उकसाने में सचमुच सहायक-प्रेरक होगा। महान कवि तुलसीदास ही, मसलन, अपने महाकाव्य का आरंभ किस तरह करते हैं, तनिक सुनिए:

*आकर चारि लाख चौरासी।*

*जाति जीव जल थल नभ वासी॥*

*सियाराम मय सब जग जानी।*

*करहुँ प्रनाम जेरि जुग पानी॥*

मेरी तरह आप सुधीजनों ने भी विश्व के प्रसिद्ध महाकाव्य कई पढ़े होंगे। मैं अपनी कहूँ तो - मुझे तो उनमें से किसी में भी ऐसा उदात्त और फिर भी सर्वजन सुलभ आवाहन दिव्य और पावन सत्ता का नहीं मिला। नर-नारायण के सम्बन्ध की वास्तविकता का ऐसा परम्परागत और फिर भी सर्वथा नया, रोमांचित कर देने वाला आवाहन और मात्र मानववादी नहीं, चराचरवादी-चराचरमूलक, चराचर में ओतप्रोत दिव्यता और पावनता के ऐसे गहरे सम्बन्ध को प्रत्यक्ष मूर्त कर देने वाला स्वर विश्व-साहित्य में कितना विरल दुर्लभ है, कहने की बात नहीं। जैसा कि जॉर्ज स्टाइनर का

*निस्संदेह, अपनी जड़ में तो यह पावनताजनित बोध के विलोप की समस्या- मनुष्य के 'सोचने' की क्रिया को उसके 'होने' के यथार्थ से विच्छिन्न करके ही अपनी प्रगति का रथ हाँकने वाली पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की ही उपजाई हुई प्रतीत होती है।*

कहना है- हाइडेगर सिर्फ गहरा दार्शनिक ही नहीं, हमारे समय में काव्य का सबसे गहरा मर्मी पाठक था- यह ह्योएल्डरलिन (और, हाँ रिल्के) के काव्य की उसकी मर्मग्राही परख से पता चलता है। उसी का यह भी बड़ा मर्मस्पर्शी कथन याद आ रहा है कि- *कवि*

*उस दुर्भेद्य रहस्यमय पावन दिव्य शक्ति और हम सामान्य मानवों के बीच सबसे सुदृढ़ सेतुबंध रचने वाला मध्यवर्ती है, जो अपनी सभ्यता के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध होता है। स्वयं हाइडेगर की दृष्टि में "देवता वे मध्यवर्ती शक्तियाँ ही हैं- जिनपर कवि अवलम्बित होता है, और जो स्वयं कवि पर अवलम्बित होते हैं। क्या यह बात हममें स्वयं अपने पुरातन वैदिक भावबोध का यज्ञ के मूल में निहित अनुभूति का स्मरण नहीं जगाती? यह न तो आकस्मिक है, न अकारण, कि हाइडेगर के मर्मग्राही विशेषज्ञ मेहताजी अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वेद के सर्वथा मौलिक भाष्य में प्रवृत्त हुए - एकदम नवीन खोज में। इस संदर्भ में उनके अपने अनुभव की साखी भी उन्हीं के शब्दों में सुन लेना हमारे लिए जरूरी होगा। वे कहते हैं एक जगह-*

वैदिक वाङ्मय की व्याख्या में दो दुर्लभ बाधाएँ हैं : एक तो वे मजहबी और सांस्कृतिक नृतात्विक पूर्वग्रह, जो दो सदियों से पाश्चात्य वैदिक विद्वत्कर्म के मूल में कार्यरत रहे हैं, और दूसरे, वे दर्शनशास्त्रीय पूर्वधारणाएँ, जिन्होंने पूर्वोक्त मजहबी पूर्वग्रहों से कम अनर्थ नहीं उपजाया है। उस अनर्थ के मूल में हैं, पाश्चात्य अवधारणाओं को एक नितांत भिन्न परम्परा पर बिना सोचे-समझे आरोपित करते रहने की अहमन्य कुटेव। कहना मुश्किल है किसने ज्यादा कहर ढाया है इन दोनों में।

मेरे समानशील मित्रो! अब मैं आपके साथ इस संवाद को एक ऐसी अलग दिशा में मोड़ने की प्रेरणा अनुभव रहा हूँ, जो हो सकता है आपको आकस्मिक विषयान्तर सरीखा लगे; किन्तु मेरा खयाल है वह अन्ततः आपको भी उतना ही प्रासंगिक और विषय के मर्मस्थल में सीधी पैठ करने-कराने वाला उपक्रम लगेगा। कम से कम ऐसा विषयान्तर, जो इस तरह की प्रश्नाकुलता में अनिवार्यतः उपजने वाली उलझनों में निहित अतिबौद्धिकता से अर्थात् स्वयं एक तरह की विषयासक्ति के प्रलोभनों से उबारते हुए अपने हृदय की बात कह-सुन पाने सरीखा अनुभव संभव कर सके।

निस्संदेह, अपनी जड़ में तो यह पावनताजनित बोध के विलोप की समस्या- मनुष्य के सोचने की क्रिया को उसके होने के यथार्थ से विच्छिन्न करके ही अपनी प्रगति का रथ हाँकने वाली पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की ही उपजाई हुई प्रतीत होती है- देकार्त का आई थिंक देयरफोर आई एम सूत्र जिसका स्वयं आधुनिकता का भी प्रस्थान बिंदु क्या परिपाक-बिंदु ही लग उठता है। किन्तु भारत जैसे देश की धर्मप्राण संस्कृति भी जिसे महान् आधुनिक कवि येट्स ने रेलीजन ऑव दि सेल्फ (आत्मा का धर्म) निरूपित किया है, वह भी उसके विश्वव्यापी संक्रामक से अछूती नहीं रह सकती— यह भी हम देख चुके हैं। यह भी, कि मात्र एक परम्परागत शब्दावली का कवच ओढ़कर- जिसके अर्थ को हमने

अपने नए तप से- एक अभिनव अध्यवसाय के बल-बूते नहीं कमाया- अपने को सुरक्षित- अवेध्य मान लेना आत्मप्रवंचना ही है- हमें पावनता के अपने पुरातन बोध को-पारम्परिक आत्मबोध यानी आत्म-विज्ञान और परमात्म-विज्ञान को भी एकदम नए सिरे से अर्जित करना होगा। तभी हम पावनता के पुनर्वास जैसी चेष्टा और उक्ति को- जो प्रस्तुत व्याख्यान की केन्द्रीय विषयवस्तु है- सचमुच चरितार्थ करने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

अब, जैसा कि अतिमानस के अवतरण की संभावना के प्रतिपादक श्री अरविन्द का भी मानना है, प्रकृति अपने विकास-क्रम में जीव की प्राणिक सत्ता को जहाँ तक ले आई है -मनुष्य तक - वहाँ से आगे वह उसे नहीं ले जा सकती। वहाँ से आगे उसे केवल मानव-चेतना का एक अभूतपूर्व पुरुषार्थ ही ले जा सकता है- जैसा कि स्वयं अरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' की शुरुआत में ही प्रयुक्त मुहावरे- ऐडवेंचर ऑव कांशसनेस से व्यंजित होता है। चेतना मनुष्य में ही आत्मचेतन होती है और तभी उसकी साधना और संभाव्य सिद्धि के आयाम भी तभी उसी में उजागर होते हैं। यह अपनी सीमाओं को लाँघने की प्रेरणा सृष्टि के मूल में ही, और उसकी विकास-प्रक्रिया में भी अंतर्निहित होनी चाहिए अर्थात् उसी प्रक्रिया में, जिसकी परिणति मनुष्य में हुई, जो कि मात्र भोक्ता ही नहीं प्रत्युत साक्षी और आत्मचेतन चेतना है। अर्थात् आत्मा और परमात्मा का ही अंश होने की संभावना से युक्त है। आत्मा - यानी क्या? सर्वाधिक प्राचीन और प्रचलित इस शब्द का अभिप्राय क्या है? क्या यह महज एक रूढ़ अभ्यास या कि खल्ल भर है? या कि हमारे मनुष्य होने के अनुभव का ही स्वतः प्रमाण आख्यान और अभिव्यक्ति? क्या आत्मा मैं हूँ इस आद्य प्राथमिक तथ्य और बोध का सातत्य है? इस व्याख्यान के प्रारंभ में ही हमने जो तीसरा उद्धरण टाँका था- वह तो- लगता है- आत्मा को इसी तरह परिभाषित कर रहा है। सीधा शब्दार्थ उसका यही तो है कि ..... यह पुरुष, जो सुषुप्ति

में ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है, स्वप्न में बगैर इन्द्रियों के' और जागृतावस्था में इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ निरन्तर वर्तमान रहता है, वह इसीलिए 'आत्मा' कहलाता है। आदिपुरुष मनु ने अपने होने को कैसे अनुभव किया? मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में / मैं भी कहने लगा मैं रहूँ / शाश्वत नभ के गानो में... यह आधुनिक हिन्दी के महाकाव्य कामायनी का मनु कहता है। किन्तु क्या हम मनु के वंशज- आज के मानव-जीव अपने होने को उस तरह अनुभव करते हैं? हमारी हालत तो उससे कहीं बदतर है जिसका पूर्वाभास कामायनीकार जयशंकर प्रसाद ने ही झलका दिया था :

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,  
इच्छा क्यों पूरी हो मन की?  
एक दूसरे से न मिल सके,  
यह विडम्बना है जीवन की।

सचमुच, क्या हम कभी भी अपने आप में प्रतिष्ठित होते हैं? बेशक, हम जीते तो इसी भ्रम में हैं, हम में से कोई भी यह मानने को तैयार न होगा कि वह एक स्वचालित यंत्र भर है। मगर किसी भी दिन- आज और अभी आप जरा अपने ऊपर यह प्रयोग कर देखें। अपनी पल-प्रतिपल बदलती मनःस्थितियों और परिस्थितियों में क्या-क्या हरकतें आप करते हैं- हर हरकत का तुरन्त फोटू खींच डालें- तब पता चलेगा कि आप किस क्रंदर बिखरे हुए, और अपनी आदतों और जड़ीभूत संस्कारों से परिचालित यंत्र हैं। आपकी हर क्रिया क्रिया नहीं- मात्र, प्रतिक्रिया है। तब आप देखेंगे कि आप किस तरह उन्हीं-उन्हीं बातों-हरकतों-मुद्राओं को यंत्रवत् दुहराते रहते हैं मानो- अपने ही कर्म-भोग की लाचार पुनरावृत्तियों से बँधे। कैसा दुश्चक्र है यह! सुनी ही होगी आपने हिस्ट्री के बारे में वह प्रसिद्ध उक्ति एक नामचीन इतिहासकार की ही,- कि एकमात्र सबक जो आदमी अपने इतिहास से सीखता है, वह यही है, कि

आदमी अपने इतिहास से कभी भी कुछ नहीं सीखता। मानव समुदायों के ऊपर भी यह बात उतनी ही लागू होती है जितनी मानव-व्यक्तियों पर। क्या ही विडम्बना और क्या ही विरोधाभास है यह- सोचिए ज़रा- कि जो चेतना हमें मुक्ति का पात्र बनाती है, वही हमारी आजीवन काल-कोठरी की क़ैद बन जाये। इसका मतलब यही न हुआ कि हम सचमुच, वास्तव में चेतन यानी आत्म-चेतन कभी होते ही नहीं। मानो हमारी चेतना सिर्फ उस पर पड़ी असंख्य छापों की ही निरीह पुनरावृत्तियों का सिलसिला भर हो।

दूसरी ओर, इस तथ्य को भी कैसे नकारा जा सकता है कि यही मनुष्य अनवरत विकास करता आया है। अपने बुद्धि-बल से उसने हर क्षेत्र में अपनी क्षमता का विस्तार किया है। प्रकृति में निहित ऊर्जा स्रोतों की खोज और भरपूर दोहन करते हुए उसने प्रकृति से स्वतंत्र होकर अपनी सभ्यता और संस्कृति का निर्माण और विकास किया है। यहाँ तक कि तमाम सांस्कृतिक विविधताओं के परे मानव मात्र की एकता का स्वप्न भी उसी ने देखा है और उसे चरितार्थ करने का भी अनवरत प्रयत्न वह करता रहा है। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। वह क्या है जो उस अनादि- अनन्त परात्पर ब्रह्म को इस सादि-सान्त मानव से- इस आत्म चेतना के मनुष्यरूपी अधिष्ठान से जोड़ता है? तो इस मनुष्य रूपी आत्मचेतन अधिष्ठान की इस ब्रह्माण्ड में कोई भूमिका भी अवश्य होनी चाहिए। वह भूमिका क्या है? ब्रह्माण्ड की संचालक महा शक्ति ने- शंकराचार्य के शब्दों में कहें तो जगत्साक्षिणी संवित् चेतना ने अपनी सर्वाधिक परिष्कृत ऊर्जा उसी पर तो निछावर की है। तभी तो वह मैं हूँ तो मैं कौन हूँ जैसे प्रश्न के सम्मुख स्वयं को खड़ा पाता है। तो, इसका मतलब यही न निकला कि उस सृष्टि-विधायक परात्पर (और सर्वभूतान्तरात्मा भी) सत्ता के साथ- जिसे परमात्मा या नारायण भी कहा जाता है, उस नारायण के साथ इस नर की सत्ता एक बहुत ही खासुलखास स्पन्दात्मक

सम्बन्ध में जुड़ी होनी चाहिए। सृष्टि का कोई उद्देश्य, कोई प्रयोजन अवश्यमेव होना चाहिए जिसकी पूर्ति इस नर की आत्म-चेतना के सहयोग की अपेक्षा रखती है। अब यँ तो सभी विश्वधर्मों में- उनके मूलोद्गम में मसलन Essene Christianity में भी इस नर-नारायण सम्बन्ध के संकेत मिलते हैं, किन्तु भारतीय वाङ्मय में इसकी जैसी सुदृढ़-तात्त्विक और अटूट अभिव्यक्ति मिलती है, वैसी अन्यत्र और दुर्लभ लगती है। जीव और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा को मौलिक एकता का ऐसा उद्घोष ठेठ तत्त्वमीमांसीय धरातल पर और कहाँ मिलेगा- कुछ गिने-चुने अपवाद स्वरूप रहस्यदर्शियों को छोड़कर ? यँ उन्हें मुख्यधारा से बहिष्कृत भी कर दिया जा सकता है- कुफ्र का इलजाम लगाते हुए बहरहाल...।

समस्या मगर वही उठती है जिसका उल्लेख अभी ऊपर हुआ है। जैसा कि हमारी हिन्दी के एक मौलिक तत्त्वचिंतक-दार्शनिक यशदेव शल्य का कहना है - *हम जगत्भाव को प्राप्त चैतन्य हैं। पर यह भाव चेतना के लिए अनिवार्य नहीं है।* सर्वथा सत्य

कथन है यह। किन्तु हमारी विडम्बना यह है कि हम चौबीस घंटे इसी जगत्भाव में निमग्न रहते हैं। चौबीसों घंटे उसी से अपने को *आइडेन्टिफाई* करते रहते हैं। उससे अपने को विलग करके अपने वास्तविक स्वरूप को खोजने की विकलता कदाचित् ही कभी महसूस करते हैं। इसे यँ भी कह सकते हैं कि अपने एक केन्द्रीय और स्थायी *मैं* की क्षणिक कौंध भर हममें कभी-कभी जागती है; पर वह टिकाऊ नहीं होती, तुरन्त बिला जाती है। हम अपने उस आत्मस्वरूप को भूले रहते हैं जो *मैं हूँ* की निरन्तर और अकाट्य प्रतीति का मूलाधार है। इसका अर्थ यही हुआ कि हममें *आत्मा* एक संभावना के स्तर पर तो विद्यमान रहती है, पर अधिकांशतः हम उस

संभावना से बहुत-बहुत निचले धरातलों पर ही जीते चले जाने के अभ्यस्त हो रहते हैं। परन्तु दूसरी ओर, उक्त नर-नारायण के पारमार्थिक अद्वैत की जाग्रत्-जीवन्त अनुभूति भी तो इसी हाड़-माँस की देह के माध्यम से मनुष्य ने ही कमाई है। तभी तो *गीता* में कहा गया है कि-

***मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।  
यततामपि सिद्धानाम् कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वः ॥***

अर्थात् *हजारों में कोई एकाध ही आत्म-साक्षात्कार या परमार्थसिद्धि के लिए यत्नशील होता है। और अयत्नशील साधकों में भी कोई बिरला ही वास्तव में मुझे जान पाता है। यह कौन कह रहा है ? किससे कह रहा है ? यह वह कह रहा है जो पुरुषोत्तम परमात्मा है, योगेश्वर है, और*

*उससे कह रहा है जो स्वयं भी बिरलों की ही श्रेणी में आता है, जो उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से भी यह कहलवा लेता है कि भक्तोऽसि मे, सखा चेति। तू मेरा भक्त और अनन्य सखा है। तनिक इस नर-नारायण सम्बन्ध पर- निराले ही सखा सम्बन्ध पर- ध्यान दीजिए नर और*

*नारायण* जितने निकट और घनिष्ठ साहचर्य को व्यक्त करने वाले नाम हैं, वैसे ही *पुरुष* और *पुरुषोत्तम* भी। क्या इससे *नाम सुमिरन* का एक सर्वथा नूतन अर्थ प्रगट नहीं होता ? नाम- सुमिरन अर्थात् आत्म-स्मरण, *सेल्फ-रिमेम्बरिंग* अर्थात् वह आत्म-ज्ञान, जो परमात्म-ज्ञान का ही पर्याय नहीं, तो उसकी अनिवार्य पूर्व-प्रतिज्ञा तो अवश्यमेव है। जितने भी ज्ञान-विज्ञान हैं उनमें सर्वाधिक दुस्साध्य। किन्तु इसीलिए तो वह सर्वाधिक मूल्यवान्, सर्वाधिक स्पृहणीय ज्ञान ठहरता है, जिसके अभाव में बाकी सारे ज्ञान अज्ञान सदृश लगने लगते हैं। ऐसे ज्ञान तक पहुँचने के लिए जाने कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती होंगी। जबकि अधिकांश लोग तो शुरुआती सीढ़ियों पर



ही हिम्मत हार जाते होंगे। आरम्भ में ही मैं कौन हूँ इस प्रश्न के उत्तर में बीसियों मैं अपना-अपना दावा पेश करने लगेंगे। दरअसल गेंगे जैसा कि अभी हाल आरमेनिका में उपजा और दुनिया भर में धूम मचा देने वाला चमत्कारी गुरु जी.आई. गुर्जिएफ भी अपने अनजाने ही हमारे जयशंकर प्रसाद आदि के सुर में सुर मिलाता हुआ कहता है- हमारे होने करने के तीन प्रमुख केन्द्र हैं- मनुष्य अनेकायामी या कह लीजिए- या कम से कम त्रिआयामी जीव है। ये तीन केन्द्र है- शारीरिक स्नायविक भाव, वेगात्मक और बौद्धिक। तो अनिवार्यतः हमारा व्यक्तित्व उसी अनुपात में सुगठित सामंजस्यपूर्ण और आत्म-प्रतिष्ठित कहलायेगा जिसके अनुपात में ये तीनों केंद्र पूरे आपसी ताल-मेल के साथ हमारे भीतर सक्रिय होंगे, यानी परस्पर सहयोगी और ऐक्योन्मुख होंगे। मगर हमारे वास्तविक रोजमर्रा के जीवन में वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। तीनों केंद्रों के बीच आपस में कोई ताल-मेल नहीं बन पाता। कुल मिलाकर- कामायनी के कथ्यानुसार वस्तुस्थिति यही, कि-

*ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?  
एक-दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।*

परन्तु यदि यह विडम्बना है, तो उसका कोई उपचार भी तो होना चाहिये। क्या होगा वह उपचार ? क्या हम मानव-जीव केवल भोक्ता ही हैं, और हमेशा भोक्ता ही बने रहेंगे ? या कि कभी अपने भोक्तापन के साक्षी भी बनेंगे ? यूँ थोड़ा-बहुत साक्षी तो हम होते ही हैं अपने कर्मों के, अपने भोग के। नहीं होते तो वह विडम्बना, जो हमारे साथ घटती है, उसे भी कैसे पहचान या देख पाते ? मगर देख पाते हैं, इसीलिए तो उसके इलाज के लिए जो कुछ करणीय है, वह हमें करना चाहिए। पहले तो फिलहाल तो हमें लगातार उसे 'देखना' है- सतत आत्मनिरीक्षण का अभ्यास डालना है। भोक्ता की बजाय इस साक्षी का ही क्षेत्रफल बढ़ाना है। मशीनी प्रतिक्रिया के दुश्क्र को तोड़ना है। उस कर्म-शृंखला को तोड़ना है जिससे हम जाने-अनजाने निरीह ढंग से बँधे हुए हैं।

उस तात्कालिक प्रतिक्रिया को तुरन्त देखकर उसे जहाँ का तहाँ स्थगित करके ही हम अपनी अभ्यासजनित जड़ता पर नियंत्रण कर सकते हैं। इसी तरह अपने इस साक्षी-भाव को विकसित करते हुए ही आप अपने बौद्धिक केन्द्र को, और भाविक-प्राणिक केन्द्रों को भी अधिकाधिक चैतन्य-स्फूर्त होते हुए पाएँगे। पहली बार ये तीनों केन्द्र सचमुच एक-दूसरे से जुड़ेंगे। इसी आत्मनिरीक्षण, इसी साक्षी चेतना की सक्रियता के फलस्वरूप आप धीरे-धीरे अपने उस केंद्रीय 'मैं' की ओर अग्रसर होते जाएँगे। आपकी बोध-शक्ति, इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति तीनों जागकर एकाग्र समन्वित ढंग से काम करने लगेंगी। ऊर्जा का अपव्यय रुक जाएगा, तीनों केंद्रों की एकाग्र ऊर्जा तब फिर आगे जाकर उन उच्चस्तर स्रोतों से जुड़ेगी जो आपकी उच्चतर भाविक और बौद्धिक ऊर्जा के स्रोत हैं और आपके मस्तक में, या उसके ठीक ऊपर अवस्थित हैं। अब यूँ तो ये उच्चतर केंद्र भी आपके अनजाने सदा सक्रिय रहते हैं किन्तु उनसे आपका कोई तगड़ा सम्बन्ध यानी जुड़ाव ही नहीं बन पाता। दरअसल वह ध्यानलभ्य वस्तु है, साक्षात् अनुभव की। उससे सम्पर्क होते ही आपको अनुभव होगा कि कोई ऊर्जा तरंग उच्चतर केंद्रों से उतरकर आपके भीतर प्रवेश किया चाहती हैं, कर रही हैं। आप तो बस पूर्णतः बिछ जाईये, समर्पित हो जाइए उनके प्रति। क्या पता जिसका उल्लेख गीता करती है- 'सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते' वह- या कम से उसका कुछ पूर्वाभास सा आपको होने लगे।

मित्रो ! अब तक आप उकता चुके होंगे कि यह क्या बकवास हो रही है ? सोचते होंगे ही काहे को उठाएँ यह जहमत ? क्यों अपनी बँधी-बँधाई दिनचर्या में विक्षेप आमंत्रित करें। ..... पर उपदेश कुशल बहुतेरे !..... कौन कहता है कि हम एक मशीनी रूटीन के बन्दी हैं ? आप आज भी हमें पता है वही रूटीन निभा रहे हैं। तब फिर काहे को यह साक्षी-भाव और आत्मनिरीक्षण की अलामात हम पर थोप रहे हैं ? हमारे हर 'एक्शन' को आप

‘रिएक्शन’ करार दे रहे हैं। यानी हमें ‘रिएक्शनरी’ बता रहे हैं। आप होंगे रिएक्शनरी। हम तो पूरे होशोहवास में अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते हुए जैसा जो भी थोड़ा-सा लुत्फ जिन्दगी की न्यामतों का उठाने का हक़ मिला है हमको, वह उठा रहे हैं। अब आप हमसे कह रहे हैं – ‘ठहरो अपनी इन सहज स्वाभाविक हरकतों को जहाँ का तहाँ ठप्प कर दो। तुम नहीं हो ये सब। बिल्कुल नहीं हो। तुम तो सिर्फ़ देखो, देखते रहो उन्हें साक्षी की तरह-बिना उसमें दिलचस्पी लिए।’ अरे, वैसे ही क्या कोई कम मुसीबतें हैं रोजमर्रा की हमारी जिन्दगी में, जो हम यह एक नई मुसीबत मोल लें? अनवरत आत्म-निरीक्षण की। आप फरमाते हैं कि आधुनिक युग के एकतर्फ़ा बौद्धिक विकास ने आदमी की त्रिआयामी समग्रता को कुंठित कर दिया है। मगर आप यह क्यों नहीं देखते कि इसी विकास ने कैसे अभूतपूर्व अवसर जुटा दिये हैं जो हम सबकी पहुँच के भीतर हैं, सिर्फ़ मुट्ठी भर संपन्नों के लिए नहीं। तो ऐसे में प्रत्यक्ष लाभ को छोड़कर सुनी-सुनाई परोक्ष बातों के पीछे अपनी जान हलकान करना – यह तो कोई समझदारी नहीं। क्यों उठाएँ हम यह जहमत और जोखिम, जिसके नतीजों के बारे में हम कुछ नहीं जानते?

अब, इस क्यों? का उत्तर तो हम आपको दे नहीं सकते। वह तो उस रास्ते पर-यानी जगत्साक्षिणी चेतना के रास्ते पर चलकर ही हासिल हो सकता है। महज़ एक भोक्ता – उपभोक्ता के तर्क-वितर्क से नहीं। यदि यह सब आपकी दृष्टि में अनर्थ है तो बताइये ना, कि फिर अर्थ कहाँ है? क्या बिना अर्थ की खोज किये, यंत्रवत् एक रूटीन जीवन जीते चले जाना आपको अपनी मानवीय गरिमा के अनुरूप लगता है? ‘जीवन’ सहस्रमुख भय और शोक है’ ऐसा आपका ‘महाभारत’ कहता है और सिर्फ़ कहता ही नहीं, यथावत्

आपको दिखा भी देता है उसे। मगर वहीं या अन्यत्र यह उसका विरोधी अनुभव भी तो उचारा गया है कि ‘जीवन अलभ्य वरदान है, अखण्ड सौभाग्य है।’ क्या ये दोनों बातें अनुभवप्रसूत और अपनी जगह सच नहीं हैं? हमने अद्वैत वेदान्त के उल्लेख से इस बातचीत की शुरुआत की थी ना? तो सुनिए, उसका सर्वोच्च दार्शनिक शंकराचार्य क्या कह रहा है – मनीषापंचकम् –

**‘शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचा गुरोः  
नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याजशांतात्मना  
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके  
प्रारब्धाय समर्पितं स्वपुः नूनं मनीषा मम।’**

अर्थात् चेतना रूपी अग्नि में निरन्तर अपने अतीत और भविष्य की बन्धनकारी कर्मशृंखला की आहुति देते रहना, निर्भ्रान्त शान्तिपूर्वक इस नश्वर जगत् के सारे प्रलोभनों की असलियत जानते-समझते हुए नित्यब्रह्म के विमर्श में लगे रहना..., जो नियत है, उसका अकुण्ठ स्वीकार करना... क्या यह निरा भाग्यवाद है? याकि बौद्धिक-भावि परिरक्ता?..... अलावे इसके, क्या यह मात्र एक आदमी के व्यक्तिगत छुटकारे की बात है? याकि जीवन का उसकी समग्रता में यथातथ्य स्वीकार तथा

ऋण-शोध? जीवन का ही नहीं, जीवन के स्रोत और चरम लक्ष्य स्वरूप उस नित्य सत्ता का भी ऋण शोध? जीवन आखिर सिरजा ही इसीलिए तो गया है : इसी मुक्ति चेष्टा के ‘ऐडवेंचर’ के लिए। सवाल सिर्फ़ हमारे व्यक्तिगत या सामाजिक ‘स्व’ का नहीं है सवाल हमारे ‘होने’ के- यानी मनुष्य-भाव के-संपूर्ण यथार्थ का है। मात्र एकांगी तार्किक विचारणा का, या देहात्मबुद्धि जगत् भाव का, यानी *आइडेंटिफिकेशन* में ही लिथड़े रहने का नहीं। सवाल ‘मैं हूँ’ – इसलिए ‘मैं सोचता भी हूँ’ का

है, न कि बकौल देकार्त, 'मैं सोचता हूँ इसीलिए 'मैं हूँ' का। असली चुनौती तो यही है- शरीर में घर बनाकर डटी हुई आदतों की गुलामी की- जिससे रिहाई तब तक नामुमकिन है, जब तक हम उसके बरक्स एक उच्चतर ऊर्जा के आवाहन और अवतरण की प्रक्रिया से नहीं जुड़ते। हम बड़ी आसानी से देवासुर-संग्राम और अमृत-मंथन की कथाओं को पौराणिक गल्प मान के छुटी पा जाते हैं परन्तु क्या हम सचमुच जानते हैं, जीते हैं उसके जीवन्त मर्म को? वह मर्म, जिसे गुर्जिएफ जैसे पुरुषार्थी चेतना के धनी लोगों ने हमें सीधे दो-टूक आज की भाषा में बताने और पहचनवाने की तपस्या की थी। गुर्जिएफ ही क्यों, श्री अरविन्द ने भी- अपने ढंग से। गुर्जिएफ जिसे *चेतना मार्ग* कहता है उसी को तो हमारे यहाँ जैसा हम ऊपर पहले ही कह चुके हैं- गुर्जिएफ के ही समकालीन श्री अरविन्द ने *दि ऐडवेंचर आफ कांशसनेस* कहा है। श्री अरविन्द भी तो गुर्जिएफ की तरह समग्र मानव जीवन के आमूलचूल रूपांतरण पर जोर देते हैं। पर वह बिना उच्चतर ऊर्जा की सहायता के संभव नहीं। जिसे इसी बीसवीं सदी में काशी के विशुद्धानन्द परमहंस *महाशक्ति* और *मा* कहते थे- उसी को हमारे असली मैं यानी आत्मा का स्रोत बताते हुए। *बिना मा के जीवन्त स्पर्श के तुम इस साधना पथ पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकते।* -वे कहते हैं। पर यह भाषा उनकी हम बुद्धिजीवियों को कैसे पकड़ेगी बिना उस स्पर्श की साक्षात् अनुभूति के? तो, लीजिये गुर्जिएफ की पट्टशिष्या मदाम सॉलजमन की भाषा में सुन लीजिए उसी बात को, मदाम कहती हैं- *Without relationship whit the Higher Energy, life has no meaning. Higher energy is your permanent self; but you have no connection with that.*

क्यों? आखिर क्यों हैं हम इतने अनेकाग्र-बिखरे हुए? इसीलिए ना, कि हम अपने स्वरूप में कायम रह ही नहीं पाते। स्वरूप-विस्मृति में ही जीते हैं हम। *पातंजलयोग* में उल्लिखित 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

हमारे लिए महज एक किताबी सूत्र भर रहा आता है। ऐसे में सचमुच टिकाऊ और कारगर पावन दिव्यता की मूल चेतना कहाँ से और कैसे संभव हो? गुर्जिएफ जो उपाय सुझाता है, वह उसीके शब्दों में यह है कि *रिमेम्बर योरसेल्फ ऑलवेज ऐंड ऐवरीव्हेर*। याद कीजिए, अपनी गीता भी तो ठीक यही न कहती है! *तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च* का भला और क्या अर्थ है? इसी जगह हमें श्री अनिर्वाण द्वारा रेखांकित ध्यानलभ्य *सेंसेशन* को हृदयंगम करना होगा। जो स्वतंत्र रूप से मदाम सॉलजमन के शब्दों में इस तरह अभिव्यक्त हुई है- सुन लीजिए। बहुत मुद्दे की बात है यह। मदाम कहती हैं-

*इट इज नैसेसरी टु मेंटेन अ काटेक्ट बिटवीन दि माइण्ड ऐंड दि बॉडी, दैट इज अ सेंसेशन। दैट परमिट्स ऐन ओपनिंग फॉर द इनर्जी व्हिच कम्स फ्राम दि हैड। व्हाइल वन इज इन रिलेशनशिप विद दैट इनर्जी, देयर इज फ्रिडम। अदरवाइज देयर इज ऑलवेज सम फियर।*

यह कथन जहाँ हमें गीतोक्त ध्यानयोग के मर्म में सीधे प्रवेश दिलाता है वहीं दूसरी ओर वह मेरे दिमाग में कभी से जमी हुई महात्मा मंगतराम की इस मर्मोक्ति से भी अनायास ही जुड़ जाता है कि *जो लाग साधनविहीन होके सिर्फ किताबें पढ़ के अभय प्राप्त करना चाहते हैं, वे कायर हैं और अपना अमूल्य समय व्यर्थ ही गँवा देते हैं।* जब तक हम अपनी इस स्वरूप-विस्मृति की त्रासदी और विडम्बना को, और अर्जुन जिसे *नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा* कहता है, उस स्मृति को यथातथ्य हृदयंगम करके जीना नहीं सीखते तब तक हमारे उद्धार की संभावना संदिग्ध ही रही आएगी। गाँधीजी की *आश्रम भजनावली* की पहली ही प्रार्थना है- *प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुट दात्यतत्त्वं। सच्चित्सुखं परमहंस गति तुरीयम्।* हमें रटा हुआ है वह कबसे। पर क्या हम उसे वस्तुतः समझते हैं? क्या यह यँही है कि *ओल्ड टेस्टामेंट* और *न्यू टेस्टामेंट* दोनों में परमपिता का सबसे पवित्र नाम *आई ऐम* ही बताया गया है। अभी हाल 1980 तक हमारे बीच विद्यमान निसर्गदत्त महाराज का तो मूलमंत्र ही यही था- *आई-*

ऐम। इसका अर्थ यही न हुआ कि आत्म-ज्ञान के बिना सच्चा परमात्म-विज्ञान और धर्म-विज्ञान संभव नहीं। क्या श्री अनिर्वाण और क्या मदाम सॉलजमन सभी ने जिस एक ही बात को रेखांकित किया है वह यही है कि सत्य के असीम विस्तार को किसी एक रूपाकार में नहीं बाँधा जा सकता। उन्हीं के शब्दों में - *दि बिबिल्डरिंग ऐरे ऑव गॉड्ज़ फिलॉसफीज ऐंड माइथोलॉजीज इन इंडिया प्वाइण्ट्स टु दिस।* यह सर्वसमावेशी अनेकता ही हमारी शक्ति है, जो समूचे विश्व में भारतीय सभ्यता को अप्रतिम बनाती है। परन्तु इस शक्ति का स्रोत क्या है? निश्चय ही *अद्वैत* का तात्त्विक और यौगिक साक्षात्कार ही ऐसी चकरा देने वाली अनेकता और विविधता को धारण कर सकता है। परन्तु हमें अपने पुरखों की उस दूसरी *स्पिरिच्युअल कॉमनसेंस* को भी सदैव ध्यान में रखना होगा, कि..... *धर्मों रक्षति रक्षितः*। इसमें भारी सन्देह है कि हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी इस दोहरी सच्चाई को सचमुच स्वायत्त कर पाते हैं, कि *धर्म भी उसी की रक्षा करता है जो स्वयं धर्म की रक्षा करने में समर्थ है*। हमारा निकट इतिहास ही साक्षी है कि कितना अनर्थ उपजाया है तमाम साम्राज्यवादी धर्म संस्थाओं ने, और खुद हमारे परोपजीवी, औपनिवेशिक जेहनियत के मारे हुए बुद्धिजीवियों ने हमारी इस सबसे गहरी सांस्कृतिक मूल्य-दृष्टि और धर्मदृष्टि का, जो हमें अभीप्सित *पावनता* के पुनर्वास, की भी एकमात्र आशा है। उक्त अनर्थ से खुद उबरना और दूसरों को भी उबारना ही हमारे सामने वह सबसे बड़ी चुनौती है, जिसे स्वीकार किये बिना हम स्वयं अपने समाज और देश-काल के लिए अनिवार्य मूल्य-चेतना और विश्व-दृष्टि का पुनराविष्कार और जतन नहीं कर सकते।

मित्रो! *स एकाकी ने रमते।.... एकोऽहं बहुस्याम् .. नारायण को भी नर की- नर के सहयोग की अपेक्षा है - नर जिसकी अनङ्गिप आँखों में, नारायण की व्यथा भरी हैं। नर को नारायण की जितनी जरूरत है, उससे कम जरूरत नारायण को भी नर की नहीं है। इस आधुनिक*

युग ने मनुष्य के लिए एक ओर यदि अमृतपूर्व सुविधाएँ जुटाई हैं तो दूसरी ओर अभूतपूर्व खतरे और विपदाएँ भी तो उसके साथ ही साथ उपजा दी हैं। जाहिर है कि तब ऐसी विकट परिस्थिति में मनुष्य को अभय-साधना भी एकदम नये ढंग की चाहिए इस अभूतपूर्व संकट का सामना करने और उससे उबर पाने के लिए। आत्म-विज्ञान और परमात्म-विज्ञान की ब्रैंड-न्यू समझ।

वह समझ क्या होगी? क्या हो सकती है- इसी प्रश्न-कुलता का सामना और सत्कार करना मेरे इस व्याख्यान की प्रेरणा और विषय-वस्तु है। प्रसंगवश नितान्त अपूर्वानुमेय ढंग से मुझे यहाँ जे.कृष्णमूर्ति का स्मरण हो आया है। इससे ज्यादा उपयुक्त समापन मेरे इस व्याख्यान का और कला क्या हो सकता है? एक जगह कृष्णमूर्ति कहते हैं—

परम्परा से आपको हजारों उत्तेजनाएँ और दमन चेष्टाएँ वसीयत में मिली हैं। उनका सामना करिये। उनको देखिये-समझिये। तभी उनसे पार पा सकेंगे। यह अन्तहीन पुनरावृत्ति उन प्रतिक्रियाओं की और उन पर काबू पाने की आपकी उतनी ही यांत्रिक चेष्टाएँ, सब निरर्थक हैं चेतना और साक्षी चेतना ही जीवन के असली परमार्थ और उद्देश्य है। वही जीवन की अनन्त समृद्धि और संभावनाओं को चरितार्थ कर सकती है।

इसमें इतना ही और जोड़ा जा सकता है : 'जीवन की अनन्त संभावनाओं के साथ ही- उनकी चरितार्थता की पूर्वप्रतिज्ञा सदृश 'पावनता के पुनर्वास' को भी। धन्यवाद। इतने धीरज के साथ आपने मुझे सुना इस कृपा के लिए तुमुल कोलाहल-कलह में/में हृदय की बात रे मन...। जय।

यह लेख 14 नवम्बर, 2018 को इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांश स्टडी, शिमला के प्रतिष्ठित रवीन्द्रनाथ टैगोर स्मृति व्याख्यानमाला की पाँचवीं कड़ी का अविक्ल अंश है।

सम्पर्क : एम-4 निरालानगर,  
भदभदा रोड, भोपाल-462003

## देहरी पर दीपक

भारतीय परम्परा के प्रांगण में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

माधव हाड़ा

अभिव्यक्ति मनुष्य अस्तित्व की नैसर्गिक ज़रूरत है। मनुष्य अस्तित्व की संभावनाओं के पल्लवन और संपूर्ण विकास के लिए अभिव्यक्ति की निर्बाध और अकुंठ आज़ादी बहुत ज़रूरी है। अभिव्यक्ति पर रोक-टोक और स्थगन दूसरी तरह से मनुष्यता पर रोक-टोक और उसका स्थगन भी है। यह विडंबना ही है कि नैसर्गिक ज़रूरत होने के बावजूद अभिव्यक्ति की आज़ादी मनुष्य का सहज सुलभ अधिकार नहीं है। इसे पाने और सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य निरंतर संघर्षरत रहा है। उसकी इस संघर्ष यात्रा में कई उतार-चढ़ाव और मोड़-पड़ाव हैं। संचार के साधनों के अभाव में विश्व समाज कई सांस्कृतिक इकाइयों में विभाजित था, इसलिए अलग-अलग समाजों में उनकी ज़रूरतों के तहत अलग-अलग अभिव्यक्ति की संस्कृति विकसित हुई। भारतीय समाज आरंभ से ही वैविध्यपूर्ण है। यहाँ सदियों से कई समूह अपनी भिन्न संस्कृतियों के साथ एक-दूसरे के साथ रह रहे हैं। उन्होंने एक-दूसरे को निरंतर दिया-लिया भी है, इसलिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर इस समाज का नज़रिया विश्व के दूसरे समाजों से अलग है। यहाँ भी अभिव्यक्ति की पूर्ण और निर्बाध स्वतंत्रता को लेकर

कई तरह की उठापटक, ऊहापोह और अंतर्बाधाएँ हैं, लेकिन यह समाज कुछ हद तक इसका सम्मान भी करता है। विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के सदियों के सहजीवन के अभ्यास और संस्कार से यहाँ अभिव्यक्ति की ऐसी संस्कृति विकसित हुई है, जिसमें एक-दूसरे की भिन्नता की स्वीकृति, असहमति का सम्मान और असहमति को एक स्वतंत्र विचार और मत में ढलने और विकसित होने की स्वतंत्रता है। अभिव्यक्ति की यह निरंतर स्वतंत्रता और वैविध्य यहाँ इसलिए है, क्योंकि इस समाज के जीवन और व्यवहार में कुछ हद तक तर्क और युक्ति के लिए जगह हमेशा रही है।

**भारतीय दर्शनों का विकास भी इस तरह से हुआ कि इसमें विचारों के वैविध्य की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। ईसा पूर्व की सातवीं और दूसरी सदी के बीच भारत में लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध धर्म आदि कई दार्शनिक विचारधाराएँ अस्तित्व में आईं। ये आदर्शवादी, भौतिकवादी, नास्तिक, आस्तिक आदि सभी तरह की दर्शन प्रणालियाँ हैं।**

यहाँ अभिव्यक्ति की निर्बाध, व्यापक और अकुंठ स्वतंत्रता है, यह कहना भी एक तरह का सरलीकरण होगा। यहाँ भी भिन्न संस्कृति समूहों में एक-दूसरे की आस्था, विश्वासों और पूजा-पद्धतियों की अभिव्यक्तियों में ऊँच-नीच का आग्रह है, इनको लेकर उद्धत और गर्वोक्तिपूर्ण फ़तवेबाज़ियाँ हैं, लेकिन यह इस समाज का सदैव और संपूर्ण स्वभाव नहीं है। सदियों के सहजीवन से इस समाज का स्वभाव ऐसा बन गया है कि इस तरह की फ़तवेबाज़ियाँ और घटनाएँ कुछ समय के लिए इसकी

सतह पर हावी दिखती हैं, लेकिन कुछ ही समय बाद इन सबको धो-पोंछकर यह समाज अपने बुनियादी स्वभाव पर लौट आता है।

1.

सदियों के सहजीवन के अभ्यास और संस्कार के कारण भारतीय समाज के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में एक-दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति और सम्मान भाव है, इसलिए ये एक-दूसरे को अभिव्यक्ति की छूट देते हैं और इस कारण यहाँ अभिव्यक्तियाँ प्रायः बहुवचनीय हैं। भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि कई सांस्कृतिक-धार्मिक समूह हैं। इनमें से कुछ यहीं बने-बिगड़े और कुछ बाहर से आए, लेकिन मामूली प्रतिरोध-संघर्ष के बाद उन्होंने एक-दूसरे के साथ रहना सीख लिया। इनके साथ रहने का सबसे बड़ा आधार एक-दूसरे की विद्यमानता की स्वीकृति है। यह इस तरह का स्वीकार भाव है कि आप हम जैसे नहीं हैं और हम आप जैसे नहीं हैं। एक-दूसरे की विद्यमानता का यह स्वीकृति भाव यहाँ के दर्शन और साहित्य सहित सभी कला रूपों के वैविध्यपूर्ण विकास में फलीभूत हुआ है। ऐसा यहाँ बहुत पहले से है। आर्य और आर्यपूर्व लोगों के बीच संघर्ष हुआ, लेकिन बाद में उनमें सहअस्तित्व का भाव आ गया। उनकी अलग-अलग जीवन और पूजा-पद्धतियाँ कई सदियों तक जारी रहीं। आगे चलकर तो आर्यों ने आर्यपूर्व देवी-देवताओं को अपना लिया और आर्यपूर्व लोगों ने वैदिक देवताओं को मानना शुरू कर दिया। वेदों की अभिव्यक्तियाँ भी एकरूप नहीं हैं—ये कई लोगों की अलग-अलग धारणाओं और विश्वासों की अभिव्यक्तियाँ हैं। उपनिषद्काल में अभिव्यक्ति का यह बहुवचन सही मायने में चरितार्थ हुआ। उपनिषदों में व्यक्त विचार वैविध्यपूर्ण हैं। एक ही उपनिषद् के अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग लोगों के विचार हैं। कहीं-कहीं तो ये विचार परस्पर विरोधी हैं। उपनिषदों में धर्म, सृष्टि और अंतिम वस्तुतत्त्व

पर विचार किया गया है, लेकिन यहाँ प्रश्नों के उत्तर समान नहीं हैं। कुछ मानते हैं कि सत की उत्पत्ति असत से हुई, जबकि कुछ इससे असहमत हैं। इसी तरह कुछ द्वैतवादी हैं, तो कुछ उनसे अलग अद्वैतवादी हैं। कुछ पारलौकिक अस्तित्व में विश्वास करते हैं, जबकि कुछ इस तरह की किसी सत्ता के अस्तित्व को ही खारिज करते हैं।

भारतीय दर्शनों का विकास भी इस तरह से हुआ कि इसमें विचारों के वैविध्य की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। ईसा पूर्व की सातवीं और दूसरी सदी के बीच भारत में लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदांत, जैन, बौद्ध धर्म आदि कई दार्शनिक विचारधाराएँ अस्तित्व में आईं। ये आदर्शवादी, भौतिकवादी, नास्तिक, आस्तिक आदि सभी तरह की दर्शन प्रणालियाँ हैं। पंद्रहवीं सदी में हुए *मध्वाचार्य* का अपना एक दार्शनिक मत है, लेकिन उन्होंने अपने ग्रंथ *सर्वदर्शन संग्रह* में चालीस विभिन्न प्रकार के दार्शनिक मत-मतांतरो को बिना किसी भेदभाव के शामिल किया। खास बात यह है कि बहुत स्पष्ट और मुखर असहमति के बावजूद इसमें अनीश्वरवादी लोकायत या चार्वाक दर्शन को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के आराध्यों। पूजा-पद्धतियों और धारणाओं की अभिव्यक्तियाँ अलग थीं, इनका जो साहित्य लिखा गया, वो भी एकरूप नहीं है। इनमें भी वर्चस्व के लिए संघर्ष हुए, लेकिन धीरे-धीरे ये एक-दूसरे के अभ्यस्त हो गए। धीरे-धीरे लोक में आकर ये एक-दूसरे के पास भी आ गए और अंततः एक-दूसरे में घुलमिल गए। इनमें भेद केवल इनके शास्त्रों तक सीमित रह गया। शैव, शाक्त और वैष्णव हिंदू समाज के भीतर थे, उनमें पारस्परिक विरोध था, लेकिन बौद्ध और जैन समूह तो पारंपरिक हिंदू समूह और उसके विश्वासों के विरुद्ध और उससे अलग थे। अमर्त्य सेन ने बौद्ध और जैन धर्म को हिंदू धर्म के विरुद्ध विद्रोह कहा है। इन

दोनों के दर्शन, साहित्य और कलारूप अलग-अलग तरह से विकसित हुए। खास बात यह है कि इनमें एक-दूसरे की आलोचना या एक-दूसरे पर सतही टीका-टिप्पणी लगभग नहीं है। इनमें खंडन-मंडन भी है तो यह अकसर गूढ़ दार्शनिक मीमांसा के रूप में है और इसकी भाषा बहुत संयत और शालीन है। वृहद् भारतीय समाज में जैन और बौद्ध धर्मों को स्वीकृति भी प्राप्त हुई और बहुसंख्यक समाज से अलग और कुछ हद तक उसके विरुद्ध होने के बावजूद इनको अभिव्यक्ति की पूरी छूट भी मिली। जैन और बौद्ध धर्मों ने हिंदू प्रतीकों, चरित्रों, पूजा-पद्धतियों और कथाओं का अपने साहित्य में अपनी धारणाओं के अनुसार रूपांतरण भी किया, लेकिन इसे लेकर कहीं कोई संगठित नाराजगी और प्रतिरोध नहीं हुआ। बाहर से आने वाले समूहों- पारसी, ईसाई, मुस्लिम आदि की मौजूदगी भी यहाँ बहुत पुरानी है। इनकी मौजूदगी की स्वीकृति आसान नहीं थी- खास तौर पर मुस्लिम समुदाय की स्वीकृति में प्रतिरोध और संघर्ष की अनदेखी करना ग़लत होगा, लेकिन यह भी सही है, जिस तरह इसे प्रचारित किया गया है, यह वैसा नहीं है। यह ज़रूर है इसकी स्वीकृति में समय लगा, आज़ादी से तत्काल पहले और इसके बाद में हुए दंगों के दौरान कुछ क्षेत्रों में इसमें तात्कालिक विचलन भी देखने को मिले, लेकिन समय और स्थान के विस्तृत दायरे में देखने पर लगता है कि इस स्वीकृति की सांस्कृतिक जड़ें भी बहुत गहरी हैं और दोनों समुदायों ने एक-दूसरे के साथ रहने की अपनी नियति को स्वीकार कर लिया है। दोनों अपने सांस्कृतिक अस्तित्व की धारणाओं और विश्वासों को स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करते हैं और इन्हें लेकर कोई प्रतिरोध या पाबंदी नहीं है। सिक्ख धर्म ने अलग रूप लिया, उस पर इस्लाम का प्रभाव भी हुआ, लेकिन उसके अस्तित्व को लेकर कोई प्रतिरोध नहीं हुआ। इसके अपनी तरह के विचार और साहित्य को भी स्वीकृति मिली।

भारतीय बहुवचनीय अभिव्यक्ति संस्कृति को लोक या सामाजिक स्वीकृति के साथ समय-समय पर

सांस्थानिक और शासकीय स्वीकृति भी मिली। ज्ञात इतिहास में इस तरह की शासकीय स्वीकृति का पहला उदाहरण अशोक का है। अशोक स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित था, लेकिन अन्य धर्मों की धारणाओं और विश्वासों के लिए उसके मन में गहरा सम्मान था। उसका विचार था कि जो व्यक्ति अपने संप्रदाय के प्रति लगाव के कारण अन्य लोगों के मतों का अपमान करता है, वह अपने इस व्यवहार द्वारा अंततः अपने ही संप्रदाय का अहित करता है। मध्यकाल में अकबर ने भी इस बहुवचनीय अभिव्यक्ति संस्कृति को शासकीय समर्थन प्रदान किया। उसने विभिन्न धार्मिक-सांस्कृतिक समुदायों के सम्मेलन आयोजित कर विभिन्न विचारों और विश्वासों की विद्यमानता को स्वीकृति और सम्मान दिया। यही नहीं, उसने इनमें संवाद और अंतर्क्रिया को भी प्रोत्साहित किया। आज़ादी का आंदोलन अपने चरित्र में ही बहुलतावादी था, भारतीय सामाजिक बुनावट के अनुसार इसमें कई सांस्कृतिक और राजनीतिक समूह सक्रिय थे, इसलिए आज़ादी के बाद भारतीय संविधान ने अभिव्यक्ति की बहुवचन संस्कृति में दृढ़तापूर्वक अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। संवैधानिक प्रावधानों में भारत में कई समुदायों और उनके कई विश्वासों और विचारों की विद्यमानता को स्वीकृति और इन्हें अपने को व्यक्त करने की छूट दी गई।

## 2.

अभिव्यक्ति की खास भारतीय संस्कृति का विकास इस तरह से हुआ है कि इसमें असहमति के विचार और तर्क को पर्याप्त महत्त्व और जगह दी गई है। यहाँ उसकी उपेक्षा, अवहेलना और अनदेखी नहीं है। वाद, विवाद और संवाद तथा खंडन-मंडन की परंपरा यहाँ बहुत आरंभ से ही रही है। आरंभिक आर्य विचारकों ने विचार के किसी भी रूप को अंतिम या शाश्वत कभी नहीं माना। खास बात यह है कि कोई धारणा या विचार यहाँ कभी प्रश्न और जिज्ञासा से ऊपर नहीं रहा। ऋग्वेद में ऐसे कई सूक्त हैं, जो देवताओं के अस्तित्व पर संदेह

व्यक्त करते हैं। एक सूक्त में ऋषि कहता है- 'लोग कहते हैं इंद्र नहीं है, किसने उसे देखा है?' एक अन्य सूक्त में कहा गया है- 'इंद्र कौन है? उसे किसने देखा है? एक-दूसरे से वे कहते हैं- इंद्र नहीं है तो हम किसकी पूजा करें?' उपनिषदों में जिस विचार का खंडन किया गया है या जिससे असहमति है उस विचार या तर्क को विस्तार और पूर्णता में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं में असहमति को बहुत महत्त्व दिया गया है। दर्शनों में विवेचन और मीमांसा की जो पद्धति विकसित हुई, उसमें विरोधी या विपक्षी मत के लिए स्थान पहले से निर्धारित है। तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने भारतीय दर्शन की विवेचन पद्धति की इस खास विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि 'इस पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है विपक्षी के सिद्धांतों को स्पष्ट करने के बाद अपने सिद्धांत का समर्थन करना। प्राचीन भारतीय पंडितों की यही धारणा थी कि अनेकों प्रतिकूल तथा अनुकूल मतों के परामर्श के बिना स्व सिद्धांत सिद्ध ही नहीं होता। ईश्वर नहीं है, वेद प्रमाण नहीं है। आदि नास्तिकपक्षीय विचारों को स्पष्ट करने के उपरांत ही ईश्वर है, वेद प्रमाण है। आदि आस्तिकपक्षीय सिद्धांतों का प्रणयन प्राचीन भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने किया। वे जानते थे कि वैचारिक विरोध ही विचार वृद्धि की प्रवर्तक शक्ति है। नास्तिक को पथ का दावेदार समझ कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न वे नहीं करते; बल्कि उसे खेल का साथी समझ कर वैचारिक क्रीड़ांगन में सम्मिलित कर लेते हैं। विद्या के विषय में इनकी बौद्धिक संस्कृति का यही प्रण था।' आस्तिक और नास्तिक भारतीय दर्शन प्रणालियों ने इसीलिए अपने प्रतिपादन में एक-दूसरे की स्थापनाओं और धारणाओं का विस्तार से वर्णन किया है। अनीश्वरवादियों और चार्वाकों या लोकायतों की स्थापनाओं से संबंधित ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन खास बात यह है कि जनसाधारण में उस समय लोकप्रिय इन विचारकों की धारणाएँ उनके विरोधी अध्यात्मवादी और आदर्शवादी विचारकों के ग्रंथों में विस्तार से विद्यमान

है। बौद्ध ग्रंथ *दिव्यदान* में लोकायत की टीका और प्रवचन मौजूद है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अनवीक्षकी शास्त्र, जिसमें लोकायत भी आता है, के सकारात्मक पक्ष की सराहना करते हुए लिखा है कि 'इन विज्ञानों के प्रकाश में देखने पर अनवीक्षकी शास्त्र इस संसार के लिए सर्वाधिक लाभप्रद है, वह दुःख और सुख दोनों में मस्तिष्क को स्थिर रखता है और दूरदृष्टि, वाणी तथा क्रिया-कलाप को श्रेष्ठता प्रदान करता है।'

*रामायण* और *महाभारत* में भी असहमति और निरस्त तर्क को सर्वथा खारिज नहीं किया गया है। इनमें ऐसे कई प्रकरण और घटनाएँ हैं। *रामायण* में जाबालि के विचार पारंपरिक और उस समय मान्य अध्यात्मवादी या आदर्शवादी विचारों से अलग भौतिकवादी हैं, लेकिन उनको विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। *महाभारत* में भी कृष्ण का पक्ष विजेता का पक्ष है, लेकिन इसमें अर्जुन के पक्ष को भी पूरे ब्यौरे के साथ रखा गया है। खास बात यह है कि अर्जुन का पक्ष खारिज या पराजित पक्ष है, लेकिन यह कई बार विजेता के पक्ष पर भारी पड़ता है। यहाँ पराजित पक्ष की धारणाओं की युक्तियुक्त प्रस्तुति है। बौद्ध और जैन दर्शन और साहित्य में भी हिंदू धार्मिक मान्यताओं का खंडन है, लेकिन यहाँ भी पद्धति विपक्ष को पूरा अवसर देने की है। बौद्ध धर्म में दीक्षित अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मणों का उल्लेख सम्मानपूर्वक है। इनमें कर्मकांड की निंदा लेकिन ब्राह्मणत्व की सराहना की गई है। जैन ग्रंथ *सूत्रकृतांग* में जैन दार्शनिक धारणाओं का प्रतिपादन है, लेकिन इसके लिए यहाँ वेदांती विचार को यथोचित जगह दी गई है। महाभारत में शांतिपर्व में अनीश्वरवादी और भौतिकवादी सिद्धांतों- स्वभाववाद, यदृच्छावाद, परिणामवाद आदि को स्वीकार्य नहीं होने के बावजूद सम्मानपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। खंडन-मंडन की यह परंपरा आगे भी निरंतर है। शंकराचार्य आदि कई आचार्यों ने बौद्ध और जैन धर्मों का विरोध किया, लेकिन इस विरोध की भाषा बहुत संयत थी।



शंकराचार्य की स्थापनाएँ तर्क और युक्ति पर आधारित थीं और उनको व्यापक प्रचार-प्रसार और स्वीकार्यता भी मिली, लेकिन विरोध उनका भी हुआ और उसे व्यापक स्वीकृति मिली। वैष्णव, भागवत, पंचरात्र, शैव आदि कई संप्रदाय शंकराचार्य के विरोध में खड़े हुए। राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र हमारे सामाजिक ताने-बाने के अनुरूप बहुलतावादी था। इसमें सक्रिय नेता एक-दूसरे से असहमत थे। नवजागरण के अग्रदूतों में राजाराममोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, नारायण गुरु, महादेव गोविंद रानाडे, एने बिसेंट के विचार अलग थे। इनमें कोई एक दूसरे से सहमत नहीं था। दयानंद के विचार *जवाहरलाल नेहरू* के शब्दों में *प्रतिरोधात्मक गतिरोध से पीड़ित हिन्दू धर्म को एक आक्रामक, प्रचारात्मक (मिशनरी) धर्म बनाने* के प्रयत्न से प्रेरित थे। राजाराममोहन राय हिन्दू धर्म के रीति-

रिवाजों और कर्मकांड के ईसाई धर्म के समर्थन की हद तक आलोचक थे। विवेकानंद सहित कई अन्य का आग्रह हिन्दू धर्म और दर्शन के विलुप्त गौरव के पुनरुत्थान पर था। महात्मा गांधी राष्ट्रवाद के मुद्दे पर रवींद्रनाथ टैगोर से

असहमत थे। नेहरू और गांधी की पारस्परिक असहमतियों पर बहुत विचार हुआ है। खास बात यह है कि दोनों आजादी बाद भी अपने विचारों पर कायम थे और खुलकर अपनी असहमतियों को व्यक्त भी करते थे।

अभिव्यक्ति की भारतीय संस्कृति असहमति को केवल जगह ही नहीं, उसको पृथक् और स्वतंत्र विचार के रूप में पल्लवित होने का अवसर भी देती है। यह संस्कृति इस अर्थ में खास है कि इसमें असहमति अकसर अलग विचार या मत के रूप में पल्लवित हुई है।

इसने जन-साधारण के विश्वास और धारणा को गहराई तक प्रभावित किया है। जैन और बौद्ध धर्मों का विकास वैदिक धर्म से असहमतियों के आधार पर ही हुआ। कालांतर में बौद्ध धर्म का पल्लवन और विस्तार तो इस तरह हुआ कि यह भारत के बाहर विश्व की बड़ी जनसंख्या का धर्म बन गया। जैन धर्म की भी इसी तरह भारत के बड़े भू-भाग की प्रभावशाली जातियों में स्वीकार्यता हुई। शंकराचार्य के अद्वैतवादी एकेश्वर और माया के सिद्धांत का आदर्शवादी हिंदू दार्शनिकों ने ही विरोध किया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य की उनसे असहमति नए दार्शनिक मत-मतांतरों में फलीभूत हुई और इस आधार पर विशिष्टद्वैतवाद और द्वैतवाद जैसी नई दार्शनिक प्रणालियाँ अस्तित्व में आईं। खास बात यह है कि देशव्यापी भक्ति आंदोलन में शंकराचार्य से अधिक प्रभाव

विशिष्टद्वैतवाद और द्वैतवाद का पड़ा। मध्यकाल में भी असहमति ने कई नए संप्रदायों, धर्मों और विचारों को जन्म दिया। वज्रयान से सिद्धों, सिद्धों से नाथों और नाथों से संतों की छोटी-छोटी असहमतियों से भक्ति

आंदोलन के कई रूप बने-बिगड़े। कृष्ण भक्ति के भक्ति विधानों संबंधी परस्पर असहमतियों ने कृष्ण भक्ति के कई संप्रदायों को जन्म दिया और उनमें अलग-अलग विश्वासों वाले कई भक्त और कवि हुए।

3.

अभिव्यक्ति की बहुवचनीय भारतीय परंपरा और संस्कृति तर्क और युक्ति पर निर्भर है। तर्क और युक्ति का आग्रह यहाँ के लोगों के सोचने-समझने के ढंग में आदत की तरह शामिल है, इसलिए यह उनके दर्शन,

विचार, साहित्य और कलारूपों में भी मौजूद है। परंपरा और आस्था-विश्वास का आग्रह यहाँ के लोगों की सोच और समझ में भी है, लेकिन तर्क और युक्ति पर जोर देने की उनकी आदत के कारण परंपरा यहाँ पुनर्नवा होती रहती है और आस्था-विश्वास कभी अंतिम और सनातन नहीं बन पाते। विश्व के कई और समाजों में आस्था-विश्वास अंतिम और सनातन हैं, लेकिन भारतीय समाज में ऐसा नहीं है। तर्क और युक्ति से आस्था-विश्वासों का पुनरावलोकन और परंपरा में जोड़-बाकी यहाँ के समाज का स्वभाव है। आस्था और परंपरा का आग्रह अभिव्यक्तियों को समूहवत् और एकरूप करता है, लेकिन भारतीय अभिव्यक्तियाँ सदियों से विविध और बहुवचन हैं, क्योंकि ये तर्क और युक्ति की आदत और आग्रह के कारण प्रायः वैयक्तिक हैं।

तर्क और युक्ति पर निर्भरता यहाँ के विचार, दर्शन और साहित्यिक अभिव्यक्तियों में बहुत पहले से है। विश्व के अन्य समाजों में सृष्टि की उत्पत्ति एवं व्यवहार को लेकर जो कथाएँ मिलती हैं, उनमें कोई तर्क संगति और वैज्ञानिक सुसंबद्धता नहीं है। वैदिककाल में भारतीयों ने भी सृष्टि की उत्पत्ति और व्यवहार को लेकर कथाएँ बनाई, लेकिन उनकी कथाएँ कार्य-कारण संबंध से युक्त रूपक हैं। यह प्रवृत्ति बौद्धिक विकास की सूचक है। चार वर्णों की उत्पत्ति की कथा के रूपक का कार्य-कारण संबंधयुक्त अर्थ *जैमिनीय ब्राह्मण* में बताया गया है। *अथर्ववेद* आदि में भी इसी तरह की कई रूपक कथाओं में कार्य-कारण संबंधयुक्त अर्थों का खुलासा है। उपनिषदों में रूपकों से अलग और स्वायत्त, तर्क और युक्ति पर निर्भर चिंतन की शुरुआत हुई। उपनिषदों का चिंतन *प्रामाणिक, सुसंबद्ध तथा शुद्ध कल्पनामूल तर्कबुद्धि* पर आधारित है। खास बात यह है कि इसमें समाज के सभी तबकों की भागीदारी है। उपनिषदों में स्त्रियाँ और निम्न वर्ग भी तत्त्व चिंतन में हिस्सेदार हैं। उपनिषदों में धर्म, सृष्टि और अंतिम वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन है। सृष्टि, आत्मा, ब्रह्म आदि कई मुद्दों पर उपनिषदों में

विचार किया गया है और इनमें आधार तर्क और युक्ति है। *छंदोग्य* उपनिषद् में तार्किक बुद्धि का उपयोग सर्वाधिक है। यहाँ शास्त्र या सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में पहली बार दृष्टांतों को आधार बनाया गया है। इसी तरह तर्क यहाँ कई बार प्रयोगसिद्ध हैं।

उपनिषदों के बाद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदस और ज्योतिष नामक छह अनुशासनों का विकास पूरी तरह केवल तर्क और युक्ति पर आधारित है। इन अनुशासनों में तार्किक विवेचन पद्धति अपने चरम पर है। इन अनुशासनों में विवेचन और प्रतिपादन की वैज्ञानिक पद्धति प्रयुक्त हुई है। विवेचन की इस पद्धति के व्याख्या, वर्गीकरण, सामान्य तथा विशेष नियम, प्रमाणों की रचना, पूर्वोत्तर पक्षात्मक चर्चा और सिद्धांतों का प्रणयन नामक छह चरण हैं। यह पद्धति और व्यवस्था इस तरह की है कि इससे युक्तिसंगत निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। इस पद्धति का उपयोग कल्पसूत्र, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा में भी हुआ और इससे उपलब्ध मूलगामी ज्ञान में वृद्धि हुई है। बाद में सांख्य और योग दर्शनों का जन्म हुआ और इन्हीं से आगे चलकर वैशेषिक और न्याय जैसी दर्शन प्रणालियाँ अस्तित्व में आईं। इन दर्शन प्रणालियों की तर्क और युक्ति पर निर्भरता इस सीमा तक थी कि ये धर्म और श्रद्धा से बहुत दूर चली गईं। विवेचन में तर्क और युक्ति की जो व्यवस्था शुरू हुई, उससे व्याकरण और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी स्थापनाएँ और धारणाएँ सामने आईं, जो पूर्णतया वैज्ञानिक थीं और जिनको आज भी चुनौती नहीं दी जा सकती। पाणिनी का व्याकरण उनकी तर्क बुद्धि का इतना बड़ा आविष्कार है कि सदियों तक इस पर टीकाएँ और पूरक रचनाएँ लिखी जाती रहीं। इसकी कतिपय स्थापनाएँ आज भी अंतिम और अपरिवर्तनीय हैं। तर्क और युक्ति पर निर्भरता ने भारतीय ज्योतिष को भी समृद्ध किया। विश्व के कई समाज जब ग्रह-नक्षत्रों की उत्पत्ति और उनकी गतियों के रहस्य को जानने के लिए कथा-कहानियों पर निर्भर थे, तब इसमें ऐसे निष्कर्ष निकाले

गए और ऐसी गणनाएँ हुई, जो आज भी पूरी तरह वैज्ञानिक और प्रामाणिक हैं।

बौद्ध और जैन दर्शनों में भी तर्क और युक्ति का उपयोग कम नहीं हुआ। बौद्ध दर्शन की कुछ बुनियादी धारणाएँ आधुनिक युग में भी मान्य हैं। बौद्ध तत्त्व दर्शन में अणु को विश्व की अंतिम इकाई माना गया है, जो निरंतर परिवर्तनशील है। उसके अनुसार ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो परिवर्तनशील न हो। इस परिवर्तन को इसमें अप्रतिसंख्या विरोध, मतलब समझ न आने वाला परिवर्तन और प्रतिसंख्या विरोध, मतलब समझ में आने वाला परिवर्तन में वर्गीकृत किया गया है। धर्म, नीति, वस्तु, ज्ञान, प्रमाण, शिक्षा आदि से संबंधित बौद्ध दर्शन और विचार की इसी तरह की कई मूलगामी धारणाएँ हैं। तत्त्व दर्शन और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो काम किया, वो बहुत मूल्यवान है। जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र ने अनेकांतवाद और स्यादवाद जैसी विचार-पद्धतियों की बुनियाद रखी। अनेकांतवाद और हिगेल और मार्क्स के द्वंद्ववाद में बहुत समानताएँ हैं। जैन आचार्य हरिभद्र सूरि शंकराचार्य की कोटि के दार्शनिक थे। उनके चिंतन का आधार धर्म कम, युक्ति और तर्क ज्यादा थे। *लोक तत्त्वनिर्णय* में उन्होंने एक जगह लिखा है कि मैं न महावीर के संबंध में पक्षपात रखता हूँ, न कपिल आदि का द्वेष रखता हूँ। वही कथन स्वीकार्य है, जो युक्तियुक्त होता है। इसी तरह उन्होंने एक जगह और लिखा है कि मैं उसकी वंदना करता हूँ जिसके मन में राग, द्वेष आदि संसार बीज अंकुर की वृद्धि में सहायक विकारों का क्षय या विध्वंस हुआ है, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो अथवा जिन हो।

भक्ति आंदोलन एक तरह का सांस्कृतिक आंदोलन थाए जिसकी व्याप्ति पूरे देश में थी। आस्था, विश्वास और श्रद्धा की इस आंदोलन के व्यापक प्रसार और सामाजिक स्वीकार्यता में निर्णायक भूमिका है, लेकिन मनुष्य की सहज तर्क प्रज्ञा की भूमिका भी इसमें कम

नहीं है। ईश्वर के समक्ष मनुष्य मात्र की समानता के तर्क ने इस आंदोलन में कई अच्छी बातें जोड़ीं। जाति-पाँति का विरोध, कर्मकांड की आलोचना आदि इस आंदोलन के मुख्य सरोकार इसी कारण बने। अंग्रेजों के आगमन के बाद चले सांस्कृतिक नवजागरण में पुनरुत्थान और समाज सुधार के अपने आग्रहों में भी तर्क और युक्ति का उपयोग हुआ। राजा राममोहन राय आदि के यहाँ यह कुछ ज्यादा ही है।

यह सवाल स्वाभाविक है कि अभिव्यक्ति के इस पारंपरिक बहुवचन की मौजूदगी वर्तमान भारतीय परिदृश्य पर बहुत मुखर और ध्यानाकर्षक क्यों नहीं है या अभिव्यक्ति के स्थगन और उस पर रोक-टोक की घटनाओं का कोलाहल ही दृश्य पर इतना प्रमुख क्यों है? दरअसल भारतीय समाज ऐसा समाज है, जो सतह पर कम, अंदर ज्यादा है। सतह के दृश्य को प्रमाण हमारे यहाँ कभी नहीं माना गया। देहरी-दीपक न्याय हमारी आदत में है। हमारे यहाँ दीपक देहरी पर, बीच में है और इसका उजाला अंदर-बाहर सब जगह है। जो दीपक को केवल अंदर या बाहर रखकर उसके सीमित उजाले में सोचते-समझते हैं, हमारे यहाँ उनकी संख्या गिनती की है। शेष अधिकांश के यहाँ तो दीपक देहरी पर है और उन्हें अंदर से बाहर को और बाहर से अंदर को देखने-समझने की आदत सदियों से है।

संपर्क : 607, मैट्रिक्स पार्क,  
धनश्री वाटिका के पास, न्यू नवरतन कॉम्प्लेक्स,  
भुवाना, उदयपुर-313 001, राजस्थान  
मोबाइल- 91 94143 25302  
madhavhada@gmail.com

## नन्द चतुर्वेदी : अम्लान रोशनी की तलाश

पल्लव

कवि नन्द चतुर्वेदी के साहित्य के वास्तविक मूल्यांकन के लिए साहित्य सम्बन्धी उनकी प्रतिज्ञाओं को समझना आवश्यक है। नन्द चतुर्वेदी ने अपने परिवेश से अपने काव्य संस्कार अर्जित किये और उन्हें सम्यक् विवेक की रोशनी में विकसित किया। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा है- पद्माकर का सुप्रसिद्ध छंद जिसमें पद्माकर ने 'बालाओं' को 'मसाला' कहा है। मतलब स्त्रियां भी एक मसाला हैं तो उसका उत्तर मैंने बहुत छोटी आयु में छंद लिखकर दिया था जिसकी अंतिम पंक्ति है-

*दीजै रंगशाला, रतिशाला को हवाला कहा  
बिलखत जे हैं एक-एक निवाला को।*

जो एक एक अन्न के दाने, ग्रास के लिए बिलख रहे हैं, उनको दीजै रंगशाला, रतिशाला को हवाला कहा। और यह कोई मैंने मार्क्स की, लोहिया की, गाँधी की या जयप्रकाश की पुस्तक पढ़कर नहीं लिखा। यह सहज ही पीड़ादायक उद्गार थे, जो उत्पीड़न के विरुद्ध थे। यह कविता पंद्रह-सोलह वर्ष की आयु में लिखी थी। पर बाद में जब मैंने इन्हीं भावों को अपनी कविताओं के लिए चुना तो मुझे लगा कि मेरी कविता की चिंताएँ मूलतः यही हैं। मुझे अब भी वह सारी बयानबाजी, जो समाज से साहित्य को काटने के

संदर्भ में दी जाती है, निरर्थक और क्षुब्ध करने वाली लगती है और मेरे पास उसके तर्क भी हैं। मैं दो लक्ष्यों को बार-बार चिह्नित करता हूँ : मनुष्य की स्वाधीनता

**गद्य-लेखन के बारे में मैं यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि यह 'स्वतः-स्फूर्त' सर्जना नहीं है, यह अपने बाहरी दबावों की निष्पत्ति है और एक सुतार्किक निष्कर्ष तक पहुँचती यात्रा है। लेकिन यह कहना उचित नहीं है कि गद्य-लेखन 'दोयम दर्जे' की साधना है। अब कविता-भाषा का गद्य-रूप लेना, भाषा की शक्ति का विस्तार और काव्य-भाषा के वर्चस्व की प्रचलित रूढ़ियों को अस्वीकार करना भी कहा जाएगा।**

और मनुष्य की समता। कहना न होगा कि नन्द चतुर्वेदी का समस्त साहित्य इसी स्वाधीनता और समता की आकांक्षा से उपजा है। याद आता है कि चित्तौड़गढ़ में हुए एक आयोजन में डॉ. सत्यनारायण व्यास ने उन्हें गद्य और पद्य का सव्यसाची कहा था। बहुधा प्रशंसा में ऐसा कह दिया जाता है। लेकिन नन्द बाबू के पाठक और श्रोता जानते हैं कि वे सचमुच साहित्यिक थे। आपादमस्तक कवि। उनका गद्य लेखन आकस्मिक नहीं है। गहन विचार शृंखला से आता और अपने समय व समाज के आवश्यक सवालों से जूझता यह गद्य अपने प्रवाह और प्रभाव में कवि का गद्य ही है। प्रकाश आतुर ने उचित ही लिखा था, नन्द चतुर्वेदी जितने समर्थ कवि हैं उतने ही समर्थ गद्य लेखक भी हैं। कविता के साथ-साथ गद्य लेखन की आवश्यकता अनुभव करते हुए समीक्षाओं के साथ-साथ शिक्षा, दर्शन, राजनीति, साहित्य

आदि पर व्यापक मानवीय प्रतिबद्धता के साथ उन्होंने कलम चलाई है। (राजस्थान के कृतिकार : प्रस्तुति,

प्रकाश आतुर, राजस्थान साहित्य अकादमी) यह दो तरह का गद्य है। पहला है- विचार और साहित्य आलोचना का गद्य, दूसरा-संस्मरणों का गद्य।

आलोचक और अपने मित्र प्रो. नवलकिशोर को दिए गए साक्षात्कार में नन्द चतुर्वेदी ने कहा था, बहुत-सी बातें जो कविता में नहीं आती हैं, उन्हें अलग से कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है और यह लगातार इन दिनों ज्यादा महसूस होती है। मेरा इधर का बहुत सारा गद्य वैसा गद्य नहीं है, जिसमें साहित्यिक समस्याओं पर चिन्तन-मनन हो, बल्कि वह सामाजिक उथल-पुथल से जुड़ा है। ऐसे गद्य-लेखन की एक जबर्दस्त जरूरत मैं महसूस करता हूँ। निस्संदेह उसके लिखने में कविता-लेखन से अर्जित साहित्याभ्यास सहायता करता है, लेकिन उसकी तार्किक परिणति अधिक स्पष्ट और उद्देश्यनिष्ठ होती है। समता और स्वाधीनता के आग्रह भी उनमें स्पष्ट हैं और अनेक विषयों में मेरी रुचि भी परिलक्षित होती है। (साक्षात्कार, पृ. 41)

नन्द चतुर्वेदी ने विचार और आलोचना की अनेक गद्य पुस्तकें लिखी हैं। इनमें 1985 में प्रकाशित शब्द संसार की यायावरी सबसे प्रमुख है। राजकमल प्रकाशन से 2012 में आई यह हमारा समय इस श्रेणी की दूसरी महत्वपूर्ण किताब है जिसमें निबंधकार नन्द चतुर्वेदी के वास्तविक दाय को देखा जा सकता है। राजस्थान के प्रसिद्ध कवि सुधींद्र पर राजस्थान साहित्य अकादमी के लिए उन्होंने एक पुस्तक सुधीन्द्र : व्यक्ति और कविता शीर्षक से लिखी थी। माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान के लिए उन्होंने कविता-पाठ शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी थी जिसमें कविता के पठन-पाठन पर शिक्षाशास्त्रीय और साहित्यिक अध्ययन किया गया है। इसके अलावा सम्पादित किताबों में पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : व्यक्तित्व और कृतित्व, मीरा-संचयन और सप्त किरण शामिल हैं। इस विपुल गद्य लेखन में नन्द चतुर्वेदी की मूल प्रतिज्ञाएँ और चिंताएँ वे ही हैं जो उनके कवि-कर्म से भी जुड़ी रही हैं। गद्य लेखन में उन्हें अपने प्रान्त में मौजूद निरक्षरता और अशिक्षा को भी ध्यान में रखना आवश्यक

लगता था।

शब्द संसार की यायावरी में कोई डेढ़ दर्जन आलेख हैं जो अधिकांशतः साहित्य आलोचना और कुछ कवियों के मूल्यांकन के क्रम में लिखे गए हैं। पहले ही लेख साहित्य के बुनियादी सरोकार में वे लिखते हैं- यह सिर्फ बहस की शुरुआत है कि जिससे साहित्य के जरीये मनुष्य की दीनता, पराजय, असहायता, संशय कम हो और क्रूरताओं के प्रति उसकी नाराजगी और जागरूकता बढ़े। इस बहस से यह भी लाभ होगा कि हम अपने समय के प्रज्वलित प्रश्नों से जुड़कर साहित्य की प्रासंगिक रचना कर सकेंगे और काल को अधिक प्रखर बनाएंगे। (साहित्य के बुनियादी सरोकार, शब्द संसार की यायावरी, पृ. 16) वहीं लिखने की कठिनाइयाँ शीर्षक से लिखे आलेख में वे दूर तक देख पा रहे थे- आने वाले दिनों में राज्य सत्ताएँ प्रबल और क्रूर हो सकती हैं, संगठन अधिक अनुशासन-कामी, शहर अधिक फैले हुए, शास्त्र और सैन्य शक्ति अधिक उद्वंड, व्यवस्था अधिक अमानवीय और क्रूर, बाहरी दुनिया ज्यादा आकर्षक और वस्तुएं अधिकाधिक मनोहारी, तब रचनाकार को साहित्य लिखने की जटिलताओं और कठिनाइयों का अनुभव होगा। (शब्द संसार की यायावरी, पृ.23) इस पुस्तक में नन्द चतुर्वेदी का एक आलेख है रसज्ञता, इसमें कवि ने हमारी परम्परा में मिले एक काव्य मूल्य को व्यापक और गहरे अर्थ में पुनर्व्याख्यायित करने का सुन्दर यत्न किया है।

पुस्तक में हिंदी और राजस्थान के अनेक महत्वपूर्ण लेखकों के मूल्यांकन सम्बन्धी आलेख भी हैं। राजस्थानी भाषा के महाकवि कहे गए कन्हैयालाल सेठिया पर नन्द चतुर्वेदी का आलेख काम का है। यहाँ उन्होंने लिखा है- कविता की जाँच करते समय यह आवश्यक है कि कवि के मन का और स्थूल दुनिया का रिश्ता तलाश किया जाए। स्थूल दुनिया किसी के लिए भी मामूली उत्पादन नहीं है, कवि के लिए तो यह वास्तव में एक गैर मामूली, असाधारण उत्पादन है। स्थूल दुनिया के सहस्त्रों आपसी संबंधों से कवि का मन अपना सम्बन्ध

बनाता है और अभिव्यक्त करता है। संबंधों के बीच से सम्बन्ध बनाते हुए वह एक ऊंची सी जगह बैठकर फिर इसे आत्मीय करते हैं और ऐसा भी हो सकता है कि अनेक कवि दुनिया के प्रश्न खुद को सम्बोधित करें। (वही, पृ. 95) कहना न होगा कि यह नन्द चतुर्वेदी के सुदीर्घ काव्यानुभव का निचोड़ है। पुस्तक में नन्द चतुर्वेदी ने गुलेरी और प्रेमचंद जैसे हमारी भाषा के बड़े गद्यकारों पर भी विचार किया है तो साहित्य से संबंधित कुछ बहसों-विवादों और धारणाओं पर उनके छोटे छोटे आलेख उनके प्रौढ़ विचारक और चिंतक का परिचय देते हैं।

यह हमारा समय नन्द चतुर्वेदी की ऐसी पुस्तक है जिसमें संस्मरणों के साथ कुछ आलेख और मूल्यांकनपरक अध्ययन हैं। पुस्तक की भूमिका में नन्द चतुर्वेदी ने लिखा था- गद्य-लेखन के बारे में मैं यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि यह 'स्वतः-स्फूर्त' सर्जना नहीं है, यह अपने बाहरी दबावों की निष्पत्ति है और एक सुतार्किक निष्कर्ष तक पहुँचती यात्रा है। लेकिन यह कहना उचित नहीं है कि गद्य-लेखन 'दोयम दर्जे' की साधना है। अब कविता-

भाषा का गद्य-रूप लेना, भाषा की शक्ति का विस्तार और काव्य-भाषा के वर्चस्व की प्रचलित रूढ़ियों को अस्वीकार करना भी कहा जाएगा। आगे उन्होंने लिखा, 'इस पुस्तक में कई विषयों पर लिखे आलेख हैं जिनमें समय के दबावों, उनको समता और स्वतंत्रता के वृहत्तर उद्देश्यों में बदलने वाले आन्दोलनों की चर्चा है। 'समता' ही केन्द्रीय चिंता है, जिसे अवरुद्ध करने के लिए विश्व की नई पूंजीवादी-शक्तियाँ अपने 'सांस्कृतिक एजेंडा' के साथ जुड़ी हुई हैं। दुनिया के लोग अघाए और शुचितों के बीच बाँट दिए गए हैं। लालची मध्यवर्ग अपनी समृद्धि के सपने देखता पूंजीपतियों की मायावी दुनिया का सहचर हो गया है। (गद्य लेखन का हौंसला, नन्द चतुर्वेदी, यह हमारा समय, पृ 10-11)

इस किताब में एक आलेख है भारतीयता की तलाश, जिसमें नन्द चतुर्वेदी इधर लगातार चर्चा में रहे इस विषय पर विचार करते हैं। कहना न होगा कि नन्द चतुर्वेदी की भारतीयता की परिभाषा और व्याख्या दोनों हमारे लिए आवश्यक बन गए हैं।' भारतीयता के प्रसंग की सबसे जटिल-ग्रंथि तो उसको पहचानने की है। उन विशेषताओं को रेखांकित करने की, जो मौलिक हैं और संशयरहित हैं।... पहचान के संकट को जानने के लिए हमें समाज के उस चित्त को ही जानना पड़ता है, जो समय की अनंत उथल-पुथल और अनिश्चयों के बीच, अपनी आस्थाओं और प्रतिज्ञाओं को नष्ट नहीं होने देता। हम हजारों प्रकार की स्मृतियों की छाया-आतप से गुजरते हुए उस संपदा को इकट्ठी करते हैं, जिसे हम संस्कृति

**इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरू भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण समय को जनतन्त्र और समाजवाद का स्वरूप देने वाले बड़े राजनेता थे।' और 'यह श्रेय नेहरू को देना चाहिए कि वे एक विभाजित और गरीब देश को फिर से हिम्मत और स्वाभिमान देने की अथक कोशिश करते रहे।**

कहते हैं, और जो बाद में, हमारे समूह-चित्त के राग-द्वेष का निर्धारण करती है। राग ही की तरह द्वेष भी, संस्कृति के हिस्से की चीज़ है। ध्यान देने की बात है कि संस्कृति, अनुभवों की विराट् शृंखला है, इसलिए उसमें पुनर्नवा होने या कुछ विलुप्त होने की सारी संभावनाएं मौजूद हैं : मनुष्य, इसी तरह इसी पराक्रम

में अपना समय और संसार बनाते हैं। (पृ.144-45) नन्द चतुर्वेदी आगे फिर कहते हैं- 'भारतीयता की तलाश करने वालों को यह जानकार हिम्मत बंधेगी कि कट्टरतावाद और मध्ययुगीन सामंतों की स्मृति-कथाओं से सम्मोहित न होने वाले लोग अब भी मूल भारतीय चित्त को जानते हैं जो मनुष्य को आंतरिक विवेक और स्वाधीनता से जोड़ता है। (वही पृ.146) आश्चर्य नहीं कि नन्द बाबू इस तलाश को भी सर्जना के साथ जोड़ने के पक्षपाती हैं- भारतीयता की तलाश उसकी पुनर्चना ही है, वह नयी कविता बनाने की तरह है जिसमें हमारी जानी-पहचानी भाषा अर्थ की नयी दुनिया की तरफ ले जाती है और उसे विश्वसनीयता देती है। पहले भी हम अनेक

समुदायों के साथ रहे हैं और अब भी उन सारी संभावनाओं को तलाश करना एक सर्जनात्मक कर्म है। (वही पृ. 146)

विख्यात कथाकार स्वयंप्रकाश ने यह हमारा समय की समीक्षा करते हुए लिखा था- पुस्तक के सर्वाधिक उत्तेजक और महत्त्वपूर्ण निबन्ध अंतिम दो निबन्ध कविता के प्रयोजन का पक्ष और आज़ादी के बाद ही हैं। इनमें नन्द बाबू का चिन्तक अपने सर्वाधिक मौलिक और तेजस्वी स्वरूप में दिखाई देता है और वह अपने पक्ष पोषण के लिए ब्राह्मणवादी संस्कृत सुभाषितों का सहारा भी नहीं लेते। कविता के प्रयोजन का पक्ष में एक जगह वह कहते हैं प्रयोजन के साथ सच्चे मन के साथ जुड़ने वालों की प्राथमिकता मानव और मानव समूहों की चौपट होती दुनिया की प्रतिष्ठा को बचा लेना है, जो इन दिनों आर्थिक विजय और सांस्कृतिक क्षरण के पाटों के बीच आ गयी है। तीसरी दुनिया की दुर्लभ सांस्कृतिक सम्पदा साहित्य और कला के लिए उपभोक्तावादी महाजनी सभ्यता के पक्षधर लोगों के पास सहानुभूति के वे शब्द हैं जो पिछले पचास वर्षों से अर्थच्युत हो रहे हैं। (मौलिक और मुखर सोच, स्वयंप्रकाश, शुक्रवार साप्ताहिक, 4 अप्रैल, 2013, पृ. 60)

पुस्तक में धर्म, हिंसा, बाज़ारवाद, संचार साधनों की अपसंस्कृति, युवा पीढ़ी और शिक्षा से सम्बन्धित आलेखों को एक स्थान पर पढ़ना निश्चय ही एक विवेकवान निबंधकार की दृष्टि से अपने को रोशन करना है। हिंदी में कथेतर विधाओं में निबंध विधा सबसे कठिन और अब लुप्तप्राय मानी जा रही है। इस विधा की ऊँचाई नन्द बाबू की यह किताब देती है। स्वयंप्रकाश का निष्कर्ष दुहराना अनुपयोगी न होगा- नन्द बाबू के निबंधों को पढ़कर पता चलता है कि वे समय के साथ चले हैं और अद्यतन समस्याओं के बारे में भी उनका सोच मौलिक और मुखर है। खासकर 'धर्म और हिंसा' तथा 'सज्जनों का संपत्ति शास्त्र' जैसे निबन्ध तो वही व्यक्ति लिख सकता है जो जानता है कि अनुभवसिद्ध होने के कारण कड़वी होने के बावजूद उसकी बात ससम्मान सुनी जाएगी और विचारणीय भी मानी जाएगी। आम तौर पर एक

अवस्था के बाद लोग या तो चुप हो जाते हैं या झींकते नज़र आते हैं कि अब मेरी बात कोई नहीं सुनता। इस मामले में नन्द बाबू आज भी युवा हैं, हर बहस में बराबरी से शरीक होने का उनमें अब भी युवकोचित उत्साह है, और यही उनकी अपार लोकप्रियता का रहस्य है।' (मौलिक और मुखर सोच, स्वयंप्रकाश, शुक्रवार साप्ताहिक, 4 अप्रैल 2013, पृ. 60)

कवि हेमंत शेष ने उदयपुर में 21 अप्रैल 2018 को दिए नन्द चतुर्वेदी स्मृति व्याख्यान में कहा था, यह हमारा समय किताब में वह जिस प्रखरता से वर्ण-व्यवस्था, स्त्री-शक्ति, महिला-स्वातंत्र्य, दलित-प्रश्नों, समाजवाद, शिक्षा, धर्म, हिंसा, बाजारवाद, हिन्दी, संचार-साधनों, पत्रकारिता, मीडिया, भारतीयता आदि गंभीर विषयों पर एक गहरी अंतर्दृष्टि से विचार कर सकते थे, वहीं वह खेदपूर्वक बातचीत या कभी पत्रों में, इस बात को भी रेखांकित करते थे कि इधर अपने समकालीन लेखकों पर 'संस्मरणात्मक' लेखन की परंपरा हिन्दी पत्रकारिता में प्रायः चुक-सी गयी है।' हेमंत शेष ने उचित कहा कि 'इन सब आलेखों में नंदजी के कवि-मन पर समकालीन जटिल प्रश्नों की गहरी काली छाया है, पर जिससे मुक्ति पाने का सपना भी इन गद्य-रचनाओं में झिलमिलाता है। खुरदरी वास्तविकताओं और जटिल-सामाजिक-राजनीतिक षड्यंत्रों की खोज-खबर लेते उनके कई गद्य-आलेख, हमें किसी तरह भी हताशा का सन्देश नहीं देते, एक आशावादी, उज्ज्वल भविष्य के प्रति आक्षिप्त जागते कर्मठ लेखक के मन-मानस का पता बताते लगते हैं। अकुंठित-आशावाद उनके लेखकीय-चित्त का स्थाई-भाव है। (वही)

कवि सुधींद्र का जन्म 15 मार्च, 1917 को हुआ था और 15 जून, 1954 को उनका निधन हो गया। केवल सैंतीस वर्ष की आयु वाले इस कवि को नन्द बाबू ने निकट से देखा जाना था। वे स्वाधीनता आंदोलन से निकले कवि थे जिनको अपने राह की तलाश पूरी करनी थी। नन्द बाबू ने राजस्थान साहित्य अकादमी के लिए उन पर पुस्तक लिखी जिसका प्रकाशन अकादमी द्वारा

1992 में हमारे पुरोध शृंखला में हुआ था। विनिबंध सरीखी इस पुस्तक में नन्द चतुर्वेदी ने सुधींद्र पर संस्मरण लिखा है और उनके जीवन यात्रा की तलाश की है। वे सुधींद्र के गाँव गए और वहाँ लोगों से मिले-बात की। नन्द बाबू का निष्कर्ष है कि 'सुधींद्र में वह ताकत थी जो एक छलांग भरने वाले हरिण में होती है। वह एक साथ अपनी कृति के दायरों को कूद जाते थे। एक नए क्षेत्र में जाने चले जाने के लिए उनके पास साहस की कोई कमी नहीं थी। राष्ट्रीयता की उग्र रचनाओं से चलकर वे प्रेम और सौंदर्य की रचनाओं तक आ गए थे। इसमें कोई संदेह नहीं था कि वे आज की मानवीय विभीषिका और अदृश्य होती हुई सभ्य परम्परा की शोकांतिका को देखते रहते। (सुधींद्र : व्यक्ति और कविताएँ पृ. पृ.58)

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान के लिए उन्होंने कविता-पाठ (1975) शीर्षक से लिखी गई पुस्तिका शिक्षक और शिक्षाशास्त्री नन्द चतुर्वेदी का साहित्य अध्यापन के लिए किया गया कार्य है। यह दुर्लभ ही होता

है कि एक कवि हृदय को अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार कार्य करने दिया जाए और उसका सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रसार भी हो। इस पुस्तिका में नन्द बाबू ने कविता सरीखे ज्ञान के अनुशासन के अध्यापन की समस्याओं पर विचार किया है। कुल चौदह अध्यायों में विभाजित इस छोटी-सी पुस्तिका में उन्होंने कविता की सामग्री के चयन से लगाकर उनके पाठ और कविता के माध्यम से सृजन शक्ति के विकास की संभावनाओं पर विचार किया है। अच्छा होता यदि आगे वे कभी इस कार्य को और विस्तार दे पाते। तब भी हिंदी शिक्षण के क्षेत्र में यह अभिनव प्रयोग था जिसके लिए नन्द चतुर्वेदी ने अपने दायित्व का ईमानदारी से निर्वहन किया।

नन्द चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित किताबों में पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : व्यक्तित्व और कृतित्व' और

सप्त किरण शामिल हैं। पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : व्यक्तित्व और कृतित्व असल में मधुमती का एक विशेषांक था जो 1985 में पुस्तकाकार आया। नन्द बाबू ने सम्पादकीय में लिखा कि पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' विद्वानों की श्रेष्ठ परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे। उनका सृजन द्विवेदीकालीन जीवन मूल्यों की पहचान कराता है।' (सम्पादकीय, पृ. VII, 'पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : व्यक्तित्व और कृतित्व')

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के आग्रह पर नन्द बाबू ने मीरा-संचयन तैयार किया था जिसमें मीरा के चुने हुए पद और एक गंभीर भूमिका थे। असल में इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि अनेक पाठ्यक्रमों में होने पर भी मीरा के पदों के

ऐसे चयन नहीं हैं जो भाषा, पाठ और तमाम ढंग से सही कहे जा सकें। नंद बाबू का चयन मीरा के विशाल लेखन संसार का प्रामाणिक और प्रतिनिधि चित्र तैयार करता है। इस संचयन की भूमिका भी मीरा को भक्त कवि के

रूप में कैद सांचों से बाहर स्वतन्त्रचेता स्त्री की अकुंठ अभिव्यक्ति कर रही कवि के रूप में देखने का नया कार्य करती है। वहीं 'सप्तकिरण' एक सहयोगी प्रयास था जो राजस्थान के सात कवियों ने मिलकर किया था। इसका सम्पादकीय नन्द चतुर्वेदी ने लिखा था। यह राजस्थान में पुस्तक प्रकाशन के घनघोर अभावों के समय में किया गया एक सारस्वत कर्म था जिसके लिए स्वयं कवियों ने अर्थभार भी वहन किया था। राजस्थान के कवि (भाग-1) शीर्षक से एक पुस्तक का सम्पादन भी नन्द बाबू ने किया था जिसका प्रकाशन राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा किया गया था।

नन्द बाबू ने संस्मरण लेखन जीवन के उत्तरार्ध में ही किया और उनके संस्मरणों की पुस्तकें भी बाद में ही आ सकी। अतीत राग (2009) और जो बचा रहा



(2014) उनकी संस्मरण पुस्तकें हैं। ये दोनों पुस्तकें पिछली शताब्दी में नन्द बाबू के सम्पर्क में आए लोगों के संस्मरणों से बनी हैं। समाजवादी आन्दोलन के नेता-कार्यकर्ता, हिंदी कवि-गद्यकार और संगी-साथियों से बने इन संस्मरणों में पिछले बरसों का अतीत पुनर्जीवित होता दिखाई देता है। वहीं संस्मरणों के बहाने कवि नन्द चतुर्वेदी की रचना यात्रा और जीवन की भी एक समृद्ध झलक यहाँ मिलती है जो न केवल साहित्य अपितु समाजवादी राजनीति को जानने-समझने का अवसर देती है। नन्द बाबू की प्रतिबद्धता गैर बराबरी के विरुद्ध संघर्ष में रही और उनके लेखन का प्रस्थान बिन्दु भी यही विचार था। यहाँ विचार के चौकत्रेपन में आई रागात्मकता समूची पुस्तक को एकसूत्र करने वाली है, बावजूद इसके कि संस्मरण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-प्रसंगों पर हैं। नन्द बाबू ने बताया है कि यह लेखन मूलतः आकस्मिक ही है, विभिन्न जरूरतों को पूरा करने वाला, श्रद्धांजलि लेख या मूल्यांकन। इस आकस्मिकता की बुनियाद वस्तुतः आत्मीयता में ही निहित है। कवि हेमंत शेष ने उदयपुर में 21 अप्रैल, 2018 को दिए *नन्द चतुर्वेदी स्मृति व्याख्यान* में कहा था, *अतीत-राग के आलेख किंचित भावुकता के साथ लिखा उन लोगों का स्मरण है, जिनकी स्नेह-छाया में मैंने अपनी जिन्दगी को 'पुनर्वासित' करने की कोशिश की है। मैं आशा करता हूँ कि उनकी मूल्यान जिंदगियां, हमारे जीवन से संशयों की निरर्थकता का उच्छेदन कर सकने में मददगार साबित हो सकती हैं।* हेमंत शेष का यह कथन निराधार नहीं है क्योंकि संस्मरणों की इस अनूठी पुस्तक का प्रारम्भ जवाहरलाल नेहरू पर लिखे संस्मरण से हुआ है, जिसके बाद क्रमशः जय प्रकाश, राममनोहर लोहिया और राजस्थान के अन्य समाजवादी नेता-कार्यकर्ता हैं। ये सभी लोग भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के उज्वल चेहरे हैं जिन्होंने औपनिवेशिक गुलामी के साथ भारतीय पिछड़ेपन के विरुद्ध भी संघर्ष किया था। जवाहरलाल नेहरू से नन्द बाबू का निजी सम्बन्ध-सम्पर्क न रहा लेकिन यह संस्मरण दरअसल आत्मीय जरूरत और पक्षधरता की उपज है जिसका

जिक्र ऊपर हुआ है। नन्द बाबू इसे प्रारम्भ करते हैं— *जवाहरलाल नेहरू के साथ मेरी पीढ़ी के लोगों का रिश्ता प्यार और नाराज़गी का है, जो हर उस आदमी के साथ होगा, जिसने सत्ता में आने के पहले हजारों रंगीन सपने दिखाए हों, लेकिन बाद में कई कारणों से और खासतौर पर जुझारू इच्छाशक्ति के अभाव में धुँधला गए हों।* (अतीत राग, पृ.13) आगे नेहरू युग को याद करते हुए, गांधी-नेहरू के मतभेदों की चर्चा करते हुए वे निष्कर्ष देते हैं, *इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरू भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण समय को जनतन्त्र और समाजवाद का स्वरूप देने वाले बड़े राजनेता थे।' और 'यह श्रेय नेहरू को देना चाहिए कि वे एक विभाजित और गरीब देश को फिर से हिम्मत और स्वाभिमान देने की अथक कोशिश करते रहे।* (अतीत राग, पृ.16)

स्वातन्त्र्योत्तर समाजवादी आन्दोलन को समझने की दृष्टि से नेहरू पर लिखा गया संस्मरण वह भूमिका है जिसके अगले अंश नन्द बाबू ने जे.पी. और लोहिया के संस्मरणों में लिखे हैं। जयप्रकाश पर लिखते हुए वे इस प्रसंग को विस्तार देते हैं कि जब प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता कांग्रेस से जुड़ने लगे थे। इस संस्मरण में जे.पी. के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए नन्द बाबू जब उनकी वक्तृता का वर्णन करते हैं तब यह एक रोमानी अनुभव प्रतीत होता है। जे.पी.कोटा की एक जनसभा में आए थे, मैंने किसी बड़ी सभा में पहली बार श्रोताओं में इतने लम्बे समय तक इतने गम्भीर भाषण सुनने की क्षमता को देखा था और पहली बार ऐसे वक्ता को भी, जो अपने श्रोताओं की बुद्धि पर इतना विश्वास करता हो। वे जे.पी. के तारुण्य के दिन तो नहीं थे, तब भी वे सुदर्शन और मजबूत सेनानायकों की तरह लगते थे। उनकी भाषण शैली उन समाजशास्त्रियों, प्राध्यापकों जैसी थी जो प्रायः किसी हड़बड़ाहट में नहीं होते और एक सुतार्किक विवेचना के असीम धैर्य के साथ बोलते हैं। अब मैं समझता हूँ कि नई समाज रचना के लिए यह धैर्य कितना आवश्यक है और तब भी जबकि कुछ हाथ न आए। (अतीत राग, पृ. 20-21) चीन से युद्ध के उद्दिग्ध

दिनों को याद करते हुए वे जे.पी. के बारे में लिखते हैं— बहुत से समाजवादी साथियों की दृष्टि में वे संन्यासी हो गए थे। मुझे लगा कि दरअस्ल नया होना कितना मुश्किल होता है, प्रायः लोग एक निश्चित बने-बनाए सिद्धान्त के इर्द-गिर्द घूमते हैं, वे क्रान्तिकारी भी जो बार-बार दुनिया को बदल देने का आग्रह करते हैं, वे तक, अपने पुराने आग्रहों को न बदलते हुए पूर्वाग्रहों से लिपटे मिलते हैं। (अतीत राग, पृ.27) इस नए दौर में भी नन्द बाबू जे.पी. का महत्त्व बताने में नहीं हिचकते— अब जबकि राज्य शक्ति असंख्य तरीकों से अपूर्व बल, अनैतिक आचरण और अवसरवादिता का लज्जाहीन प्रदर्शन कर रही हो, जे.पी. ही बचते हैं जो अपनी विफलता के बीचोंबीच राज्यशक्ति से टकराते हैं और लोक-ऊर्जा, लोक-शक्ति, लोक-नीति को बचाने की बात करते और योजना बनाते हैं। (अतीत राग, पृ.28) लोहिया से हुई उनकी दो मुलाकातों के संक्षिप्त ब्योरे के साथ लिखे गए संस्मरण में यह टीप याद रह जाने वाली है— लोहियाजी को याद करते समय यह सोचना आवश्यक है क्योंकि गांधी के बाद खुले आम जेल चलने का बुलावा देने वाले, सत्ता के आंतरिक क्षय, बड़बोलेपन, निरर्थकता, जातिगत अहंकार और कुलीनता के नाटक को निर्भीकतापूर्वक बेनकाब कर देने वाले वे अकेले थे, लेकिन उनकी आवाज़ ऊंची थी। सबसे अधिक बेचैन, आकर्षक और बेशुमार लोगों को एक जोखिम भरे रास्ते पर चलने के लिए उत्प्रेरित करने वाली। लोहिया कोई राजपुरुष नहीं थे। राजपुरुषों के अकृपापात्र थे। वे कोई मोहक रूप-रंग अथवा आभिजात्य का सपना दिखाने वाले जादूगर नहीं थे। वे सिर्फ सत्य और रोशनी के नजदीक ले जाते थे, और शायद इस यात्रा के दौरान वे असंख्य लोगों के मित्र बन गए थे। (अतीत राग, पृ. 32)

नन्द बाबू राजस्थान में समाजवादी आन्दोलन के जमीनी सिपाहियों में रहे हैं। गाँवों-कस्बों में जाने, गैर बराबरी के विरुद्ध अलख जगाने और जोशीले गीतों से वातावरण बनाने जैसे कई काम थे जो उनके साथी

और वे किया करते थे। अपने इन साथियों पर लिखते हुए सम्बन्धों की ऊष्मा की आँच नन्द बाबू पाठकों तक पहुँचाते हैं। हीरालाल जैन पर लिखा संस्मरण इसका उदाहरण है। एक सामान्य-नामालूम से समाजवादी कार्यकर्ता हीरालाल जैन पर लिखा उनका संस्मरण जैन को बड़े चरित्र के रूप में स्थापित करने वाला है। हीरालालजी ने जिस रास्ते का चुनाव किया वह 'जोखिम उठाने वाली जिन्दगी' का रास्ता था। ऊपर से उनकी जिन्दगी विक्षोभ रहित नजर आती है लेकिन अन्दर-ही-अन्दर वहाँ स्थापित व्यवस्था के प्रति असहमतियाँ-ही-असहमतियाँ, राज्य-शक्तियों से टकराने के संकल्प और परिवर्तनकामी शक्तियों के साथ रहने का अदम्य उत्साह है। (अतीत राग, पृ.40) इसी संस्मरण में आपातकाल के दिनों का वर्णन करते हुए वे बताते हैं, राजस्थान में जनता पार्टी का नेतृत्व भैरोसिंहजी करते हैं और उनकी कुशल राजनीतिक रणनीति समाजवादियों के सारे रास्ते बन्द कर देती है। दुनिया में जैसे छोटे लोगों के वंश डूब जाते हैं, वैसे छोटी पार्टियों का भी अवसान हो जाता है। पुराने समाजवादियों को लोग 'खुशनुमा द्वीपों' की तरह याद करते हैं लेकिन मुझे यह दया हमेशा अपमानजनक लगती है। (अतीत राग, पृ. 41)

समाजवादी आन्दोलन के उत्कर्ष और पराभव पर पुस्तक में आए भिन्न-भिन्न प्रसंग मिलकर आन्दोलन की एक तस्वीर बनाते हैं। यह तस्वीर विश्वसनीयता से भरी हुई है क्योंकि नन्द बाबू इस आन्दोलन से कैसा भी लाभ लेने वाले नहीं रहे, न साहित्य में और न राजनीति में। राजेन्द्र सिंह चौधरी पर लिखे एक संस्मरण का प्रसंग देखिए। ऐसे प्रसंग अब बेहद विरल हो गए हैं। अपनी अकृत्रिमता में इसका सौन्दर्य अनूठा है— मैं इस आदमी को पचास वर्षों से जानता था। लाल टोपी वाले राजेन्द्र सिंह को। मुझे टीचर्स कॉलेज से बुला ले गया था और फाटक के बाहर खड़ी भैंसों में से एक की पूँछ पकड़ाते हुए कहा कि कोर्ट चलना है। जंगलात वाले आदमी इन्हें चरनोट की जमीन पर चरने नहीं देते। जब मैंने हील हुज्जत की तब उन्होंने गाली तो नहीं दी, लेकिन कहा

कि तुम चिकने (सिल्कन) सोशलिस्ट हो और खींचकर ले गए। यह भैंसों का अद्भुत जुलूस था। शहर के लोगों ने सोशलिस्टों का जलवा मान लिया। (अतीत राग, पृ. 51)

नन्दबाबू के सुदीर्घ रचना जीवन में आए ज्ञात-अल्पज्ञात साहित्यकारों से पुस्तक में साक्षात्कार करना सुखद है। पं. गिरधर शर्मा 'नवरत्न' पर लिखे संस्मरण में नन्दजी ने झालावाड़ नरेश राणा राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' के सान्निध्य में हुए कवि दरबार का वर्णन किया है। ऐसे कवि दरबार को देखने, भागीदारी करने का यह प्रसंग इक्कीसवीं सदी में पढ़ना सचमुच इतिहास में गोते लगाने का सुअवसर ही है। तब बारह वर्ष के रहे नन्द बाबू ने भी इस कवि दरबार में कविता पढ़ी थी। जिन आत्मीय स्मृतियों से इस वृत्तान्त की रचना हुई है वह एक अजाने रहस्यलोक में जाने जैसा अनुभव है। बहरहाल वे पं. गिरधर शर्मा नवरत्न के बारे में लिखते हैं- भाषा की नई रचना के साथ-साथ वह वास्तव में उस बड़े देश की रचना कर रहे थे जो हमारे संकल्पों को, विचारों को नई तरह से समझने-समझाने की आधारभूमि बनाता है। पण्डितजी नवजागरण के उन कवियों में थे, जो सांस्कृतिक-बहुलता के रचनात्मक अभिप्रायों को समझते थे। (अतीतराग, पृ. 55)

नन्द बाबू ने आगे नवजागरणकालीन एक और विभूति पं. रामनिवास शर्मा पर भी लिखा है। जब राजस्थान में ही इन लोगों की स्मृतियाँ विलुप्त होती जा रही हैं तब हिंदी के विराट् संसार से भला क्या शिकायत की जाए। नन्द बाबू ने ऐसे लोगों पर संस्मरण लिख कर हिंदी साहित्य के इतिहास में निश्चय ही कुछ गौरवशाली पन्ने जोड़ दिए हैं।

बाद के दौर में हाड़ौती (कोटा-झालावाड़) के लोक कवि भैरूलाल काला बादल पर भी उन्होंने लिखा है। नए दौर में लेखकों में जैनेन्द्र, श्यामाचरण दुबे, शिवमंगल सिंह सुमन, अशक दम्पती, यशपाल, देवीलाल सामर, आलम शाह खान, युगलकिशोर चतुर्वेदी, कवि चित्रकार रामगोपाल विजयवर्गीय, प्रकाश आतुर, भागीरथ भार्गव, कल्याणमल लोढ़ा और क्रमर मेवाड़ी पर उनके संस्मरण हैं। मोटे तौर पर ये दो तरह के हैं, कभी त्वरा में

लेखक के महत्त्व का उद्घाटन करते औपचारिकता से भरे और कभी आत्मीय मुलाकातों का वर्णन करते अनौपचारिकता में डूबे। नन्द बाबू त्वरा में भी भाषा की रंजकता को जाने नहीं देते और थोड़े से इशारे में भी कोई-न-कोई खास बात कह जाते हैं। यशस्वी कथाकार रंगेय राघव पर लिखा एक छोटा सा संस्मरण पुस्तक में है। *तरोताजा कमल* शीर्षक से लिखे गए इस संस्मरण में रंगेय राघव के दृढ़ व्यक्तित्व और गहरी विद्वत्ता की झलक मिलती है। नन्द बाबू उन्हें काल को जीतने वाला रचनाकार कहते हैं। उनसे हुई कुछ मुलाकातों का वर्णन करते हैं और उनकी असमय मृत्यु पर क्षोभ व्यक्त करते हैं। राजस्थान में पचास वर्षों तक निरन्तर निकलती रही लघु पत्रिका *सम्बोधन* के सम्पादक कमर मेवाड़ी पर लिखे संस्मरण में वे कहते हैं, *यह अकादमिक बहस का मुद्दा हो सकता है कि लेखक की सहृदयता और निष्कपटता का अच्छे-उत्कृष्ट असरदार साहित्य से कोई नाता-रिश्ता, सम्बन्ध है या नहीं। मनुष्य के चले जाने पर शब्द ही प्रमाण होंगे उसका मानवीय आचरण नहीं, तब भी हमारी साहित्य परम्परा में मनुष्यों के साथ कवि का पड़ोस, उसका सौजन्य, उसका अपने समय और समाज को बचाने के प्रयत्न - शब्द की अन्तर्ध्वनियाँ होंगे, यह अमिट विश्वास है।* (अतीत राग, पृ. 154)

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में विश्व हिंदी सम्मेलन (1999) के प्रसंग में की गई लन्दन यात्रा का वृत्तान्त और तीन-चार निजी संस्मरण हैं। 'माँ की गाँव' में नन्द बाबू ने अपने नाना के बहाने ब्राह्मण परिवारों की कथा लिखी है, जिसे पढ़ना स्मृति के मार्फत कठोर यथार्थ से रू-ब-रू होना है। दलित आत्मकथाओं जैसे दारुण दुःख और अपमान के समानान्तर इन तथाकथित सवर्ण परिवारों की पीड़ाएँ कम त्रासदायक नहीं हैं। गरीबी की मार, भांग पीकर गलियाते पुरुष, सूखते भुट्टे के बिस्तर पर चाँदनी रात काटती स्त्रियाँ, मन्दिरों का धुआँ, डाकू, मृत्यु के प्रसंग और फिर ऊँचे होने का दम्भ मिलकर भारतीय ग्राम जीवन को फिर फिर जानने- समझने का नया मौका देते हैं। ये व्यतीत के चित्र इसलिए भी दुर्लभ हैं

कि इन्हें उधार के रंगों-कूंचियों से नहीं माँड़ा गया है। *भागीरथ काका* अपनी प्रकृति में रेखाचित्र के करीब संस्मरण है और एक बढ़िया कथा का आस्वाद देता है। भागीरथ काका की निश्छलता के साथ स्त्री शोषण का प्रसंग दग्ध करने वाला पाठकीय अनुभव है। वे कोई बड़ी क्रान्तिकारी औरतें नहीं हैं, जिन पर नन्द बाबू संस्मरण लिखते हैं, अपितु सामान्य जीवन जीने की कोशिश करतीं, लाचार-गरीब और बार-बार ठगी जाती स्त्रियाँ हैं जो तब भी जीवन की आस छोड़ नहीं देतीं। नन्द बाबू सत्तर-अस्सी वर्ष पुराने समय और समाज से कुछ चरित्र चुनकर लाते हैं और वस्तुपरकता, ठेठ वातावरण की निर्मिति से सर्वथा भिन्न अनुभव दे जाते हैं। *सीएटी कैट*, *कैट माने बिल्ली* इसी शृंखला की एक कड़ी है। यहाँ भांग के शौकीन नाना का चित्र अपने आवेग में काशी के 'बहरी अलंग' की याद दिलाने वाला है। लेकिन इस संस्मरण में आया भैंस की आकस्मिक मृत्यु का वृत्तान्त पाठक को अवसाद में डाल जाता है। वस्तुतः नन्द बाबू ने संस्मरणों में जिन व्यक्ति-घटनाओं और स्थानों को चुना है वह चुनाव ही उनकी पक्षधरता को दिखाने वाला है। इन संस्मरणों में भाषा का जादुई संसार मिलता है लेकिन यह कोई वायवीय संसार नहीं अपितु लड़ते, संघर्ष करते मामूली लोगों के जीवन की ही दुनिया है। महात्मा गांधी की हत्या पर लिखा संस्मरण *इस अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है* इतिहास का एक कटु अध्याय फिर खोलता है। तब नन्द बाबू महाराष्ट्र के एक छोटे से कस्बे नसीराबाद के एक स्कूल के हेडमास्टर थे। गांधी हत्या के समाचार से उपजते तनाव और आतंक में वे साम्प्रदायिक विभाजन का बुनियादी कलुष देखते हैं। यहाँ गोलवलकर के एक व्याख्यान और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बैठकों का विवरण साम्प्रदायिक विभाजन की कलुषता को भिन्न-भिन्न कोणों से परखने वाला है। इस संस्मरण से स्वयं नन्द बाबू के भी प्रतिरोधी और अनत व्यक्तित्व का चित्र निकलता है जो खतरे उठाना जानता है।

संस्मरण निजी छवियों की निर्मिति या पिछला बाकी चुकाने की साहित्यिक अभिलाषा नहीं हैं। नन्द बाबू के संस्मरणों का मूल्य गहरी सामाजिकता और वैचारिक प्रतिबद्धता है। फैशन से बाहर हो चुके आन्दोलनकामी विचार और कार्यकर्ताओं को चित्रित करती यह पुस्तक विधाई अन्तःक्रिया का भी अनुपम मेल है। जहाँ इसे पढ़कर समाजवादी आन्दोलन की एक तस्वीर बनती है वहीं नन्द बाबू के अपने जीवन-रचना संघर्ष का ब्यौरा और साहित्यिक किलों से दूर राजस्थान के लेखन-लेखक संसार का चित्र भी बहुरंगी छटा से भरा है। नन्द बाबू दरअसल उन बातों को नहीं करते जो बहुत जानी-पहचानी हैं। वे बाकी की बातें बताते हैं जिन्हें इतिहास भी नहीं जानता। जैसी उनकी काव्य पंक्तियाँ हैं-

*इतिहास सिर्फ मौत बताता है  
बाकी की बातें तो जिन्दगी को ही  
तलाश करनी पड़ती हैं।*

उनकी दूसरी संस्मरण पुस्तक *जो बचा रहा* का प्रकाशन 2014 में हुआ। इस पुस्तक में भी नन्द चतुर्वेदी के संस्मरण और कुछ आलोचना लेख हैं। कवयित्री मीरांबाई, कवि जीवनानंद दास, कवि कन्हैयालाल सेठिया, हरीश भादानी, गणपतचंद भंडारी, मदन डागा और विचारक-राजनेता राम मनोहर लोहिया के कृतित्व पर समीक्षा आलेखों के साथ यहाँ कवि नईम, राजनेता-लेखक रजनीकांत वर्मा, आलोचक जीवन सिंह, गांधीवादी कार्यकर्ता नेमीचंद भावुक और शिक्षक भाई भगवान पर गहरे स्नेह और ऊष्मा के साथ लिखे गए संस्मरण हैं। इन संस्मरणों और समीक्षा आलेखों में संस्मृतों पर बात करते हुए नन्द बाबू बहुधा कविता, साहित्य और समाज के संबंध में भी कोइघरी बात कह देते हैं जो पाठकों को देर तक याद रह जाने योग्य होती है। रजनीकांत वर्मा के प्रसंग में उन्होंने लिखा है- *मैं कभी कभी यह सोचता हूँ कि आशा के उछलते हुए घोड़ों पर मनुष्य, शायद, हमेशा ही सवारी करना चाहता है।* (जो बचा रहा, पृ.17) नन्द बाबू आशा के लिए जनजीवन से ऊर्जा ग्रहण करते हैं

और मामूली लोगों के पक्ष में बोलते हुए-लिखते हुए-  
 तमाम दुष्कर्मों और मुसीबतों में भी हार न मानने का  
 संकल्प भर देते हैं। इसी संस्मरण में उन्होंने राजनेता  
 रजनीकांत वर्मा और शिक्षिका-सामाजिक कार्यकर्ता  
 हबीबा बानो के विवाह का पुराण प्रसंग याद किया है। वे  
 लिखते हैं - *पचास वर्ष पहले की कट्टरताओं और विभाजन  
 की त्रासदी के बीच शांता-परसराम त्रिवेदी के ब्राह्मण  
 परिवार और हबीबा के बोहरा मुस्लिम परिवार की ऐसी  
 घनिष्ठता को मैं अब भी जब-जब याद करता हूँ तो  
 निराशा से उबर जाता हूँ।* (जो बचा रहा, पृ.19) भारतीय  
 समाजवादी आंदोलन ने धर्म, परिवार और निजी संबंधों  
 पर भी गहरा विचार किया है। यह परम्परा महात्मा  
 गांधी, नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव, राम मनोहर लोहिया  
 और जयप्रकाश नारायण तक के लेखन में मिलती है।  
 नन्द बाबू इस परम्परा से रोशनी ग्रहण करते हैं।

भाई भगवान पर लिखा गया संस्मरण राजस्थान  
 के समाजवादी आंदोलन का भी एक अध्याय है। नन्द  
 बाबू ने लिखा है- *मैंने भाई भगवान के साथ अपने  
 साथियों के चुनाव प्रचार में थका देने वाला तब भी  
 आनंददायक समय व्यतीत किया है। हमने टूटी हुई  
 साइकिलों, जर्जर बसों और फटीचर कारों में गाँव के  
 दौरे किये हैं और कथावाचकों की तरह लच्छेदार भाषण  
 दिए।... इन दौरों में हमने गाँव के लोगों के धूल और  
 उदासी में लिप्त चेहरों को देखा था और उन स्त्रियों को  
 जो अपने परिवार के लिए जाने कितनी दूरियों से पानी  
 लाती थीं। इन मायूस स्त्री-पुरुषों को देखकर हम जोर  
 से नारे लगाते- हमारी मंजिल समाजवाद।* (जो बचा  
 रहा, पृ. 28-29) भारतीय राजनीति में कांग्रेस के विकल्प  
 की अवधारणा को गढ़ने में समाजवादी आंदोलन से जुड़े  
 ऐसे हजारों कार्यकर्ताओं और नेताओं ने बड़ी भूमिका  
 निभाई। ऐसे अनेक परिचित और गुमनाम लोगों के सम्बन्ध  
 में लिखा जाना शेष है। नन्द बाबू के संस्मरण लेखन की  
 विशेषता है कि उनके लिए मनुष्यता विचार से पहले है  
 और उनके लिए गांधी जी द्वारा दिया साधनों की पवित्रता  
 का सिद्धांत इस मनुष्यता के वाजिब बखान में उपयोगी है।

*अम्लान रोशनी की तलाश में* शीर्षक से लिखा  
 गया संस्मरण सामंतशाही के राजस्थान का एक चित्र  
 दर्शाता है जहाँ सर्दी की लम्बी ठंडी और अंधेरी रातों में  
 किसी तरह जीवन व्यतीत कर रहे मामूली लोगों का  
 वृत्तांत आया है। यहाँ एक रोचक किन्तु दुखद प्रसंग है  
 जब पुलिस ने गाँव वालों को आदेश दिया कि अंग्रेज  
 गवर्नर गाँव से होकर निकल रही रेल से निकलेंगे तो  
 गाँववाले उनके सम्मान में रोशनी जलाकर पटरियों के  
 किनारे खड़े रहें। उन्होंने लिखा है- *सुबह चिड़चिड़ाते  
 हुए नाना ने बताया कि रात में कई रेलें गुजरीं। उस पूरे  
 जनांचल में जहाँ हजारों साल से अँधेरे और अकाल की  
 ठंडी छायाएं पसरी पड़ी थीं, वहाँ गवर्नर की रेल को  
 सुरक्षित गुजरने के लिए अपार रोशनी जगमगा रही थी।*  
 (जो बचा रहा, पृ.139) संस्मरण के अंत में उन्होंने  
 लिखा है- *मैंने जल्दी ही गाँव छोड़ दिया लेकिन एक  
 अम्लान रोशनी की तलाश में जिंदगी काट दी। आसानी  
 से रोशनी की किरण मिलती नहीं है। जिंदगी की हर  
 सीधी फिसलती हुई, निःस्तब्ध अँधेरे के मातम में डूबी  
 रहती है फिर भी आदमी है कि रोशनी, हँसी और दोस्ती  
 के सपने देखता है। इन सपनों की ताकत से वह हर  
 फिसलती सीढ़ी पर खड़ा रहता है और दुनिया बदल देता  
 है।* (जो बचा रहा, पृ.140)

दलित शिक्षक रामचंद्र जी मास्साब पर लिखा  
 गया संस्मरण मार्मिक है और प्रेरक भी। यहाँ गुलामी से  
 निकलकर बन रहे नए भारत में एक दलित शिक्षक के  
 स्वाभिमान का सुंदर दृश्य है। नन्द बाबू ने लिखा है-  
*मुझे लगता है मास्साब ने एक वर्णवादी सामंती समाज  
 की सारी अवमाननाएँ निःशब्द होकर सहीं। वे  
 विषमतावादी समाज में शांत, गणित के योग्य अध्यापक  
 होकर भी बिना किसी हीनताबोध के जूतियाँ बनाते और  
 पहनाते रहे। उनके विधायक काल की उपलब्धियों से मैं  
 अनभिज्ञ रहा। वैसे भी विभाजित वर्णवादी व्यवस्था में  
 कुलीनों की उपलब्धियों का ही कीर्तन होता है या धना  
 सेठों का।* (जो बचा रहा, पृ.152) दलितों के जीवन की  
 विषमताओं का उल्लेख करते हुए नन्द बाबू इस विषमता

के मूल कारणों को नहीं भूलते।

इन संस्मरणों में नन्द चतुर्वेदी संस्मृतों के अवदान पर भी जहाँ-तहाँ टिप्पणी करते हैं। राजस्थान के कवि गणपतचंद भंडारी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा- गणपतचंद भंडारी जी की इस विशेषता को रेखांकित करना चाहिए कि इन कवि सम्मेलनों में मनुष्य को यथास्थिति पर हँसने वाला और असहाय श्रोता नहीं बनाया, न दिलासा दी और न क्रांति की लंतरानियाँ हाँकीं। उन्होंने मंच की प्रकृति को समझा और उसे बदलाव की इच्छा पैदा करने वाला माध्यम बनाया (जो बचा रहा, पृ. 105) आपातकाल में अपनी कविताओं के लिए प्रसिद्ध हुए कवि मदन डागा पर लिखते हुए उन्होंने कविता भाषा पर काम की बातें कही हैं- दरअसल पिछली आधी सदी में हमने दुनिया की बेरहमियों को इतनी जगह से देखा है और इतनी बार हम या हमारे साथ का आदमी व्यवस्था के द्वारा लज्जित या कि अपमानित किया गया है कि उसने हमारी कविता भाषा को बनाया। (जो बचा रहा, पृ. 113) इसी तरह एक अन्य स्थान पर

उन्होंने लिखा, कविता का सत्य यथार्थ को सिकोड़ने में या अमूर्त करने में नहीं है, उसे विस्तार देने में, चाक्षुष करने में है। (जो बचा रहा, पृ. 82) हेमंत शेष ने उचित ही रेखांकित किया कि नन्दजी के गद्य में सर्वा जो खरापन, तार्किकता और विश्लेषण दिखता है वह उनकी गहरी अविचल और दृढ़ समाजवादी-अंतर्दृष्टि से आया है। उस कन्विक्शन में किसी तरह की आंसू-धकेल भावुकता या राजनीतिक हठवादिता नहीं-सामाजिक-औचित्य, वैज्ञानिक-तर्क और मानववादी-विवेक की प्रखर रोशनी है।...और भी नन्द जी के गद्य की खासियत उसका ओढ़ा हुआ पांडित्य नहीं, बल्कि उसकी सहज, सरल विश्वसनीयता है। भाषा के सौन्दर्य का जितना आकर्षण इस गद्य में सुलभ है- उसी अनुपात में लेखक की अपनी अविचलित आस्था और सामाजिक प्रतिज्ञा भी हमें निरंतर अनुभव होती है। (वही) कहना न होगा कि इन संस्मरणों में नन्द चतुर्वेदी का गद्य वैभव अपने उरूज पर है। वैचारिक निबंधों के समानांतर यहाँ जीवन के राग-विराग अधिक संलग्नता से आए हैं। यह जीवन संघर्षों की धीमी और कष्टपूर्ण आंच पर निखरा गद्य है जिसमें कवि ने पिछली शताब्दी के अँधेरे में भी 'अम्लान रोशनी' की तलाश नहीं छोड़ी।

संदर्भ-

राजस्थान के कृतिकार : प्रस्तुति, प्रकाश आतुर, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर  
साक्षात्कार, संपादक- डॉ. लक्ष्मीनारायण नन्दवाना, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर  
'शब्द संसार की यायावरी' -नन्द चतुर्वेदी, पंचशील प्रकाशन, जयपुर  
'यह हमारा समय'- नन्द चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

सुधीन्द्र : व्यक्ति और कविता- नन्द चतुर्वेदी,

शुक्रवार साप्ताहिक, सम्पादक-विष्णु नागर, दिल्ली

'पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : व्यक्तित्व और कृतित्व', सम्पादक- नन्द चतुर्वेदी, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

'अतीत राग' नन्द चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

'जो बचा रहा'- नन्द चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

सम्पर्क : 393, डीडीए, ब्लॉक सी एंड डी  
शालीमार बाग, दिल्ली-110088  
pallavkidka@gmail.com

## कात्यायनी : रणनीतिक प्रतिरोध की कविता

शशिभूषण मिश्र

ईमानदारी ज़िद की तरह जहाँ कविता की बुनियादी शर्त बनती है, वहीं से कात्यायनी की काव्य-यात्रा शुरू होती है। इस काव्य-यात्रा में एक साथ बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता का उपसंहार और इक्कीसवीं सदी की कविता की भूमिका निबद्ध है। रेखांकित किया जाना चाहिए कि कात्यायनी ने जिस शिद्दत से कविता के फार्म को तोड़ा है उससे कहीं अधिक मेहनत से जीवन-रूढियों को तोड़ा है। उनके यहाँ जितना निषेध प्रचलित काव्यात्मकता का है उतना ही ठहरी हुई मान्यताओं का भी। रचनाशीलता की इस यात्रा में सात भाइयों के बीच चम्पा, इस पौरुषपूर्ण समय में, जादू नहीं कविता, राख अंधरे की बारिश में, फुटपाथ पर कुर्सी और एक कुहरा पारभाषी तक की आमद दर्ज हो चुकी है। कविताई में व्यक्तिगत और सामूहिक प्रतिपक्ष को चिह्नित करने वाली इस कविता में तीन दशकों के परिवर्तनों की चहलकदमी को महसूस किया जा सकता है। सात भाइयों के बीच चम्पा (1994) में वह स्त्री जीवन और साहित्य के बीच एक जरूरी रिश्ता कायम करती हुई हिन्दी कविता को हॉकी खेलती हुई लड़कियाँ, सात भाइयों के बीच चम्पा, इस स्त्री से डरो जैसी अप्रतिम कविताएँ देती हैं। वह इस

पौरुषपूर्ण समय में के विरुद्ध बिगुल फूंकती हुई कविता को एक ऐसे आवां में तब्दील करती हैं जहाँ समय का पहिया खदबदाता हुआ पूरे इतिहास को चुनौती देता है।

वह जादू नहीं कविता के माध्यम से व्यवस्था के रहस्यीकरण के साथ-साथ कविता के रहस्यीकरण को तोड़ती हैं और फुटपाथ पर कुर्सी के बहाने वह कविता को एक नए आनुभूतिक प्रस्थान की ओर ले जाती हैं।

*कात्यायनी की कविता सत्ता और पूंजी की कारगुजारियों के खिलाफ आवाज़ ही नहीं उठाती 'सत्ता और पूंजी' की नाभिनालबद्धता को प्रश्नांकित करती है। वह दिखाती हैं कि जिसे हम भूमंडलीकरण कहते हैं, वह वास्तव में पूंजीवादी शक्तियों का ही नव साम्राज्यवादी प्रसार है।*

वैचारिकता और शिल्प के स्तर पर हिन्दी कविता लगातार समृद्ध हुई है, लेकिन अंतर्वस्तु के स्तर पर इसमें दुहराव की प्रवृत्ति बढ़ी है। इस सन्दर्भ में कात्यायनी से सीखा जाना चाहिए कि किस तरह बिना दुहराव के कविता को जुझारू विचारों की शक्ति से लैस किया

जाता है। उनकी सोच का रसायन कहन की तलस्पर्शी साफ़गोई और जुझारू विचारशीलता से बनता है। उनके लिए कविता एक निर्णायक लड़ाई में सन्नद्ध अंतहीन यात्रा है जिसका लक्ष्य मनुष्यता-विरोधी शक्ति-केन्द्रों को ध्वस्त करना है। कात्यायनी के कवि की प्रतिबद्धताएँ बेहद स्पष्ट हैं; उनकी कविता धारा के विरुद्ध तैरते उन लोगों का साथ कभी नहीं छोड़ती 'जिन्होंने इस अंधरे दौर में भी न सपने देखने की आदत छोड़ी है और न लड़ने की।' उनके लिए कविता मनुष्य के विवेक को

समृद्ध करने का माध्यम तो है ही, उससे कहीं ज्यादा व्यवस्था के छद्म को भेदने का उपक्रम है। अपनी कविताओं के बारे में लिखते हुए वह स्वीकार करती हैं कि कविता जो स्वयं मानवीय जरूरत रही है, मानवीय जरूरतों की तड़प पैदा करती हुई, वह प्रकृति से वर्चस्व विरोधी होती है, एक औजार भी होती है राज्य के रहस्य को भेदने समझने का। उनके लिए लिखना, संघर्ष के तमाम रूपों में से एक रूप है। वह उनके लिए जीने का तरीका है। कहना न होगा कवि की इस संकल्प-दृढ़ता में उसकी रचना-दृष्टि या कहें जीवन-दृष्टि के कई सूत्र तलाशे जा सकते हैं -

एक अँधेरे समय में ही  
हम सयाने हुए  
प्यार किया  
लड़ते रहे ताउम्र  
हालाँकि अँधेरा फिर भी था  
मगर हमारे जीने का  
यही एक अंदाज़ हो सकता था  
फिक्र जब सिर्फ़ एक हो  
कि दिल रोशन रहे।

कात्यायनी के लिए कविता जीवन से उपजी एक ऐसी परियोजना है जिसके द्वारा समय-समाज को देखने-परखने और हस्तक्षेप का नजरिया विकसित होता है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि, मौत की दया पर जीने से बेहतर है, जिन्दा रहने की ख़्वाहिश के हाथों मारे जाना। उन्हें गहरे तक अहसास है कि जब तक ताकतवरों द्वारा रची दुरभिसंधियों को नहीं तोड़ा जाएगा तब तक आम अवाम की जिन्दगी में खुशहाली नहीं आ सकती। प्रतिरोध कात्यायनी की कविता का स्थायी भाव है। प्रतिरोध का यह स्वर किसी वैचारिकता से नहीं जीवन की विसंगतियों, विडम्बनाओं और विभ्रमों के गर्भ तक धंसने और उन्हें चीन्हे से उपजा है, इसीलिए यह इतना विश्वसनीय लगता है-

बाज़ार की निर्बंध कृत्याओं की चपेट में  
अपनी जगह जमीन से उजड़ते ग्रामीणों  
और कारखानों से बाहर धकेले जाते  
मरते और लड़ते लाखों कामगारों के लिए  
फिलहाल पराजित  
पर जीवित सपनों के लिए गाओ।

कात्यायनी की कविता सत्ता और पूंजी की कारगुजारियों के खिलाफ आवाज़ ही नहीं उठाती 'सत्ता और पूंजी' की नाभिनालबद्धता को प्रश्नांकित करती है। वह दिखाती हैं कि जिसे हम भूमंडलीकरण कहते हैं, वह वास्तव में पूंजीवादी शक्तियों का ही नव साम्राज्यवादी प्रसार है। वह इस सच को भी उभारती हैं कि हमारा समकाल राजनीति की साम्प्रदायिक सोच का ही समकाल नहीं, उसकी कारोबारी लिप्साओं का भी समकाल है, जिसमें विकास कारोबार प्रायोजित है। इस विस्तार में कारपोरेट ताकतें पूरी दुनिया में अपनी मंडिया बना रही हैं और दूसरी ओर किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं। खेती-किसानी विरोधी नीतियों से मुकाबला करते-करते किसान थक चुका है और वह अपने खेतों से पलायन के लिए मजबूर होकर दूसरे शहरों में काम की तलाश में मारा मारा फिर रहा है। कात्यायनी इस समूचे संकट की मर्मस्पर्शी निशानदेही करती हैं-

आओ हुतात्माओं  
देखो गंगा यमुना ब्रह्मपुत्र के मैदानों में  
अपने ज़रखेज खेतों से बेदखल  
बेघर-बेदर किसान  
चिमनियों से उठते काले धुएँ  
की काली छतरी के नीचे  
भटक रहे हैं।

कात्यायनी ने यथार्थ घटनाओं और व्यक्तित्वों पर कई कविताएँ लिखी हैं; मसलन यह आर्तनाद नहीं एक धधकती हुई पुकार है, फिलिस्तीन 2015, 2010 में निराशा प्रेम उदासी और रतजगे की कविता के



बारे में कुछ राजनीतिक नोट्स, 2007, भगत सिंह के लिए एक गद्यात्मक सम्बोध गीत, गुजरात-2002, कुर्स्क के कैप्टन की अंतिम चिट्ठी पत्नी के नाम मुक्तिबोध के लिए, गोयबल्लस 1994 आदि। यथार्थ घटनाओं और चरित्रों पर कविता लिखना जोखिम भरा काम है क्योंकि सूचनाएँ चारों ओर से दबाव बनाती हैं और कविता किसी गहरे विश्लेषण के बजाए सूचनात्मक घेरेबंदी में सिमट जाती है, पर कात्यायनी की ये विशेषता है कि वो सूचनाओं से निश्चित दूरी बनाकर घटनाओं और चरित्रों द्वारा उनके सांस्कृतिक आयामों तक पहुँचने का प्रयास करती हैं—

भारत की एक स्त्री, एक स्त्री कवि  
सचमुच तुम्हें याद करना चाहती है भगतसिंह...  
और सबसे पहले, सबसे पहले पूछना चाहती है  
कविता की दुनिया से बहिष्कृत  
शब्दों को निस्संकोच इस्तेमाल करते हुए यह सवाल  
कि किस प्रकार, किस प्रकार  
तेज की जाती है क्रान्ति की तलवार  
विचारों की शान पर  
किस तरह से विचार जनसाधारण के व्यवहार में  
रूपांतरित होकर  
प्रचंड भौतिक शक्ति बन जाते हैं  
और किस प्रकार दुनिया को बदलते हुए लोग  
स्वयं को बदल लेते हैं।

हिन्दी की स्त्री कविता का राजनीतिक सन्दर्भ कात्यायनी के यहाँ बेहद परिपक्व है। इन रचनाओं में 'व्यापक सामाजिक चिंताएं' और 'राजनीतिक चेतना' इस तरह गुथमगुथा हैं कि उन्हें आपस में अलगाना कठिन है। दरअसल वह राजनीति की नहीं राजनीतिक दृष्टि की कवयित्री हैं। एक बात और जो उनमें उल्लेख्य है कि जोखिम उठाने के न्यूनतम चलन के बीच वह बराबर जोखिम उठाती हैं। गरीब-गुरुबों के पक्ष में निर्भीकता से डटी रहने वाली कविता की तादाद यहाँ बेशुमार है। वह

ऐसी कविता की प्रस्तावना लिखती हैं जो किसी भी अन्याय और दमन के समक्ष तनी हुई मुट्टियों की तरह दिखाई देती है—

एक बर्बर समय के विरुद्ध  
युद्ध का हमारा संकल्प  
अभी भी बना हुआ है  
और हम सोचते रहते हैं कि  
इस सदी को यूँ ही व्यर्थ  
नहीं जाने दिया जाना चाहिए।

वह नागरिक समाज में उभरी प्रवृत्तियों और नागरिकता-बोध पर आसन्न संकट की खबर लेती हैं। इस संकट का मूल कारण है—नागरिकता का अपनी ही खोल में सिमटकर रह जाना। संकट की तस्दीक करते हुए वह उस केन्द्रीय समस्या तक पहुँचती हैं जिसके चलते समाज में बर्बरता बढ़ी है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि बर्बरता कायर समाज में ही फैलती है और बर्बर हमेशा कायरों के बीच रहते हैं। उनका निष्कर्ष है कि— एक कायर के भीतर अक्सर एक बर्बर छिपा बैठा रहता है। कात्यायनी के भीतर इस क्रूर और बहुरूपिया समय को लेकर गहरा क्षोभ है जिसे वह बारम्बार पाठक से शेयर करती हैं—

डोमा जी उस्ताद अब एक भद्र नागरिक हो गया है  
कई अकादमियों और सामाजिक कल्याण संस्थाओं  
और कला प्रतिष्ठानों का संरक्षक, व्यवसायी  
राजनेता और प्राइवेट अस्पतालों-स्कूलों का मालिक।  
मुक्तिबोध के काव्यनायक ने  
जिन साहित्यिक जनों और कलावन्तों को  
रात के अँधेरे में उसके साथ जुलूस में चलते देखा था  
वे दिन-दहाड़े उससे मेल-जोल रखते हैं  
और इसे कला-साहित्य के व्यापक हित में बरती जानेवाली  
व्यावहारिकता का नाम देते हैं।

कात्यायनी की रचनाशीलता पर बात करते हुए

उनके अद्यतन संग्रह **एक कुहरा पारभाषी** को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कात्यायनी के सभी संग्रह और उनमें छपी अधिसंख्य कविताएँ पढ़ चुकने के बाद इतना तो जरूर कह सकता हूँ कि **एक कुहरा पारभाषी** संग्रह, जिसे हाल ही में केदार सम्मान मिला है, की अधिकांश कविताएँ एक गंजिन गद्यात्मकता का शिकार हुई हैं। कविता में गद्य का आना बुरा नहीं है पर उससे कविता की लय बिखर जाए; यह बेहतर बात तो नहीं है। रेखांकनीय है कि उनके पहले संग्रह **सात भाइयों के बीच चम्पा** में जो संकेतात्मक शिल्प है, **इस पौरुषपूर्ण समय में** और **फुटपाथ पर कुर्सी** में कहन की जो अर्थ-गर्भिता है, **जादू नहीं कविता** में जो समृद्ध अभिव्यक्ति-संक्षिप्तता है उसे इस संग्रह में वह बरकरार नहीं रख पातीं। बहरहाल, कात्यायनी **कविता की भाषा** के बजाए **समाज में कविता की जरूरत** को लेकर चिंतित दिखाई देती हैं-

दुनिया के तमाम देशों के तमाम आम लोगों तक  
 पहुंचेगी कविता  
 अलग अलग रास्तों से होकर  
 अलग अलग भेष में  
 और बताएगी उस सबसे सुन्दर दुनिया के बारे में  
 जो अभी भी हमने देखी नहीं है।

हिन्दी की स्त्री कविता पर बात करते हुए इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर कात्यायनी के साथ सविता सिंह, अनामिका, निर्मला गर्ग, गगन गिल, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी से लेकर सुमन केशरी, शुभा, लीना मल्होत्रा राव, संध्या नवोदिता, सुजाता, बाबुषा कोहली, स्वाति मेलकानी, शुभम श्री आदि तक ने अपने अपने स्तर पर मुठभेड़ की है। पहल के 115वें अंक में मीना बुद्धिराजा ने कात्यायनी

की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए दो अतिरेकी निष्कर्ष दिए हैं जिनकी ओर ध्यान आकर्षिक करना चाहूँगा। वह लिखती हैं कि- **समकालीन कविता में निःसंदेह वह अकेली रचनाकार हैं जो बदलाव के कई मोर्चों पर सक्रिय हैं।** वह आगे लिखती हैं- **कात्यायनी हिन्दी में एकमात्र कवयित्री हैं जिन्होंने एक नयी वर्ग चेतना अर्जित करते हुए अन्यायग्रस्त, संघर्षरत, सर्वहारा समाज को कविता से जोड़ा है।** जहाँ तक आन्दोलनधर्मी कविता का सवाल है वहाँ कात्यायनी के बराबर शायद ही कोई स्त्री कवि ठहरे, पर निःसंदेह वह अकेली रचनाकार नहीं हैं जो ऐसा कर रही हैं। दूसरी बात ये कि कात्यायनी ने जिस मात्रात्मकता और गुणात्मकता के साथ वर्ग-चेतन कविताएँ लिखी हैं उनका कोई शानी नहीं; पर अन्यायग्रस्त और संघर्षरत सर्वहारा समाज को कविता से जोड़ने वाली वह **एक मात्र कवयित्री** नहीं हैं। इस सन्दर्भ में हम नीलेश रघुवंशी की उन तमाम कविताओं को, जिनमें अन्यायग्रस्त और आपदग्रस्त सर्वहारा समाज की पीड़ाएँ गहरे तक जज्ब हैं, उन्हें कैसे भुला सकते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी **ढाबा शृंखला** की कविताएँ जरूर पढ़ी जानी चाहिए -

ढाबे पर सिंकती रोटियों की महक  
 और तपेले से उठती सब्जी की भाप से  
 चलती थी हमारी साँसें  
 बने इसी भाप से बच्चों के खिलौने  
 तपते थे आग में हमारे चेहरे  
 थकते पाँवों के साथ-साथ कंधे  
 पानी के भारी बर्तनों के बोझ से  
 हमारे थके चेहरे देख पिघलती थी माँ की आँखें  
 सिहरता था कहीं अंदर ही अंदर ढाबा

हिन्दी की स्त्री कविता में वर्ग-चेतना का दूसरा

उदाहरण अनामिका की ब्रह्ममुहूर्त में ईंटों की लारी, भूख, घरेलू नौकर, खुरदुरी हथेलियाँ आदि कविताओं को देखा जाना चाहिए। जिनके लिए लिखी जाती हैं कविताएँ कविता का एक अंश साझा कर रहा हूँ-

आगजनी, बाढ़ और तूफान  
दंगे, महायुद्ध, वक्त के थपेड़े  
वे अपने हाथों पर मलकर  
खैनी-चूने की तरह फांक जाते हैं  
बाज्र वक्त जब वे उठाते हैं सर  
काँप जाते हैं कलेजे  
चट्टानों के।

एक स्त्री कवि के रूप में स्त्री विमर्श का विषय उनके लिये जितना व्यक्तिगत है उतना ही सामाजिक। सात भाइयों के बीच चम्पा, हाकी खेलती लड़कियाँ, इस स्त्री से डरो, स्त्री का सोचना एकांत में, अपराजिता, देह ना होना, वह रचती है जीवन, भाषा में छिप जाना स्त्री का आदि कई कविताओं में वह पितृसत्ता से लगातार टकराती हुई स्त्री विमर्श के स्वीकार्य ढाँचे से आगे बढ़ती हैं-

चैन की एक सांस लेने के लिये  
स्त्री अपने एकान्त को बुलाती है  
संवाद करती है उससे  
जैसे ही वह सोचती है  
एकान्त में  
नतीजे तक पहुँचने से पहले ही  
खतरनाक घोषित कर दी जाती है!

इन कविताओं में कात्यायनी स्त्री अस्मिता, संघर्ष और पुरुषसत्ता की जटिल संरचना से जुड़े कई अहम सवालों से मुखामुख होती हैं। मंगलेश डबराल की इस स्थापना में बहुत बल है कि-कात्यायनी नारीवाद और मार्क्सवाद के बीच एक जटिल रचनात्मक रिश्ता कायम करती हैं। उनका स्वर मूल रूप से एक स्त्री स्वर है लेकिन उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता और समाज

को बदलने की बेचैनी भी उतनी ही सच्ची है। यह एक प्रतिबद्ध आवाज़ है जिसमें एक स्त्री की पीड़ा भी उतनी ही मूलभूत है। उनमें एक उत्पीड़ित मनुष्यता का संघर्ष है जिसे एक स्त्री के शिल्प में व्यक्त किया गया है और इस शिल्प में एक गहरी लोकतांत्रिक चेतना है जो स्मृति और स्वप्न के पारम्परिक बिंबों को भेदती हुई, कविता को ज्यादा आमफहम, ज्यादा सामाजिक बनाती है।

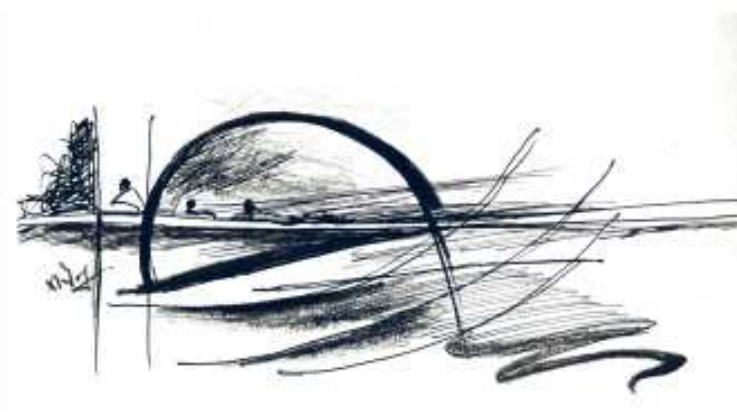
आने वाले समय में जब जब वर्ग-चेतस और संघर्षधर्मी कविताओं की बात होगी, जब-जब जुझारू और आन्दोलनधर्मी कविता का सन्दर्भ व्यक्त किया जाएगा और जब मनुष्यता के पक्ष में लड़ते हुए किसी संघर्षशील व्यक्ति के कंधे कमजोर पड़ेंगे वहाँ कात्यायनी की कविता उसके पक्ष में खड़ी होगी और उसे लड़ने का नया साहस देगी।

#### सन्दर्भ-

- कात्यायनी, फुटपाथ पर कुर्सी, अपने अपनी कविताओं और उनकी रचना प्रक्रिया के बारे में, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण, 2006, पृ.-14
- कात्यायनी, जादू नहीं कविता, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-2008, पृ.-38
- कात्यायनी, फुटपाथ पर कुर्सी, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण, 2006, पृ. 94-95
- कात्यायनी, उपर्युक्त, पृष्ठ-87
- कात्यायनी, एक कुहरा पारभाषी, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण, 2016, पृ.-65
- उपर्युक्त, पृ.-56
- उपर्युक्त, पृ.-56

- कात्यायनी, इस पौरुषपूर्ण समय में, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ.-130
- मीना बुद्धिराजा, प्रतिबद्धता और संघर्ष के मोर्चे पर स्त्री कविता, पहल, 115, जनवरी, 2019, पृ.-232
- उपर्युक्त, पृ.-235
- नीलेश रघुवंशी, घर निकासी, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ.-78
- अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2005, पृ.-182
- कात्यायनी, सात भाइयों के बीच चम्पा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण, 1994, पृ.-13
- मंगलेश डबराल, फ्लैप से, जादू नहीं कविता, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-2006

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी,  
राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय  
बाँदा, उ.प्र., मो-9457815024



## अथ किन्नर गाथा

अमृता चतुर्वेदी

कि' और 'नर' ये वे दो शब्द हैं जिनसे मिलकर 'किन्नर' शब्द बना है। बोलचाल की भाषा में इन्हें 'हिजड़ा' कहा जाता है। ये शब्द दिमाग में आते ही इनके रहन-सहन, चाल-ढाल एवं आचार-व्यवहार की छवि सामने आ जाती है। केवल किन्नर कह देने से ही इनकी व्यथा या दर्द कम नहीं हो जाता है। किन्नरों को चार वर्गों में बाँटा गया है- बुचरा, नीलिमा, मानसा और हंसा।

वास्तविक हिजड़ों को बुचरा कहा जाता है जो जन्म से ही न पुरुष होते हैं और न ही स्त्री, इन्हें जन्म-जात हिजड़ा भी कहा जाता है। नीलिमा स्वयं ही हिजड़े बनते हैं। मनसा कोटि के हिजड़े किसी कारणवश स्वेच्छा से ही हिजड़े बन जाते हैं एवं हंसा शारीरिक कमी के कारण होते हैं।

सृष्टि के निर्माता तो ईश्वर ही हैं, उन्हीं के द्वारा मनुष्यों में नर, नारी एवं उभयलिंगी की रचना की गई है। लेकिन यहाँ उभयलिंगी यानी हिजड़ों को हम मनुष्य ही हाशिये पर रखते चले आ रहे हैं। समाज में इन्हें आदर सम्मान देना तो दूर की बात है एक गाली के रूप में इस शब्द का इस्तेमाल किया जाता है जो काफी दर्दनाक एवं हृदय को भेद डालने वाला शब्द है। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए कुछ बुद्धिजीवी लेखकों ने इन्हें हाशिये से ऊपर उठाकर समाज में एक स्थान दिलाने के लिए 'किन्नर' शब्द का प्रयोग किया है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से आज अनेक विमर्शों पर चर्चा हो रही है जैसे स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि परन्तु किन्नर विमर्श या कहा जाए की इस समुदाय के विषय में कोई बड़ी चर्चा नहीं

दिखाई दे रही है और न ही सुनाई दे रही है। हालांकि ऐसा नहीं है कि साहित्य में इस विषय (किन्नर) पर पहली बार कुछ लिखा गया है, पौराणिक काल से ही ये समाज के अन्दर चर्चित रहे हैं आज से सैकड़ों साल पहले रचित *रामचरितमानस* के *अयोध्याकाण्ड* में भी इनका उल्लेख किया गया है। जब रामचन्द्र अपने पिता दशरथ की आज्ञा का पालन करने हेतु सीता और लक्ष्मण के साथ वन की ओर प्रस्थान करते हुए चित्रकूट आ गए थे तब उन्हें वापस अयोध्या लाने के लिए भरत एवं अयोध्यावासियों के साथ किन्नर भी

वहां गए थे। प्रभु राम ने उन सभी से वापस जाने को कहा लेकिन किन्नरों से वे कुछ भी नहीं बोले। तब किन्नरों ने उनके वापस आने यानी चौदह वर्ष तक की प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया। जब वनवास पूर्ण करके प्रभु राम अयोध्या वापस लौट रहे थे तब उन्होंने चित्रकूट में किन्नरों को अपनी प्रतीक्षा करते हुए पाया। रामचन्द्र ने उनसे वहां रुकने का कारण पूछा तब बड़े ही निश्चल भाव से किन्नरों ने उन्हें बताया कि जब हम आपके भाई

**किन्नरों का उल्लेख**

**कौटिल्य के**

**अर्थशास्त्र में भी**

**मिलता है। कुछ**

**ऐतिहासिक तथ्यों के**

**अनुसार हिन्दू और**

**मुस्लिम शासकों द्वारा**

**रानियों की पहरेदारी**

**के लिए किन्नरों को**

**ही नियुक्त किया**

**जाता था ।**

भरत के साथ आपको वापस ले जाने के लिए यहाँ आये थे, तब आपने कहा था-

जथा जोगु करी विनय प्रनामा,  
विदा किये सब सानुज रामा।  
नारी-पुरुष लघु मध्य बड़ेरे,  
सब सनमानी कृपानिधि फेरे ॥

प्रभु ने इस निश्छल और निःस्वार्थ प्रेम को देखकर उन्हें वरदान दिया कि कलयुग में तुम राज करोगे, तुम जिन्हें आशीर्वाद दोगे उनका कभी अनिष्ट नहीं होगा।

महाभारत महाकाव्य में भी एक ऐसे ही पात्र शिखंडी की चर्चा की गई है। वे भी किन्नर थे। अर्जुन ने भी अपने एक वर्ष के अज्ञातवास के दौरान बृहन्नला किन्नर का रूप धारण कर समय व्यतीत किया था।

किन्नरों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है। कुछ ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार हिन्दू और मुस्लिम शासकों द्वारा रानियों की पहरेदारी के लिए किन्नरों को ही नियुक्त किया जाता था।

इन्हीं पौराणिक रीति एवं किन्नरों को सम्मान देने हेतु कई देशों ने नए कानून बनाकर एवं पुराने कानूनों को संशोधित कर किन्नरों के जीवन को सरल करने का प्रयास किया है। हमारे देश में इन्हें (किन्नरों को) पहचान देने की पहल सरकार द्वारा बहुत पहले ही की जा चुकी थी। सन् 1871 यानी अंग्रजी शासनकाल में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट के तहत इन पर कई प्रतिबन्ध लगाये गए पर सन् 1897 में इसमें संशोधन करते हुए इन्हें अपराधियों की कोटि में रखा जाने लगा और इनकी गतिविधियों पर नजर रखते हुए एक रजिस्टर तैयार करने को कहा गया। धारा 377 के अंतर्गत इनके कृत्यों को ग़ैर जमानती अपराध घोषित किया गया। जब इन्हें आजादी मिली तब इनका नाम क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट में से तो हटा दिया गया था, पर धारा 377 की तलवार इनके ऊपर लटकती रही। नवम्बर 2009 में भारत सरकार ने पुरुष एवं महिलाओं से अलग इनकी पहचान की स्वीकृति प्रदान

की एवं इनका उल्लेख मतदाता पहचान पत्रों एवं निर्वाचन सूची में अन्य के तौर पर भी किया गया। 2015 में उच्चतम न्यायालय ने तीसरे लिंग के रूप में इनके अधिकारों को मान्यता दी एवं सभी आवेदनों में तीसरे लिंग का उल्लेख अनिवार्य कर दिया। इतना ही नहीं इन्हें बच्चा गोद लेने का अधिकार भी दिया, साथ ही साथ इन्हें चिकित्सा के माध्यम से स्त्री या पुरुष बनने का भी अधिकार दिया। केंद्रीय कैबिनेट ने 19 जुलाई, 2016 को ट्रांसजेंडर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ़ राइट्स) बिल 2016 को मंजूरी दे दी। भारत सरकार की कोशिश इस बिल के जरीये एक व्यवस्था लागू करने की थी जिससे किन्नरों को भी सामान्य जीवन, शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र में आजादी से जीने के अधिकार मिल सकें और जब धीरे-धीरे हर कानूनी व्यवस्था में इनकी भलाई हेतु संशोधन होने लगे तब साहित्य में भी इनका उल्लेख बुद्धिजीवी लेखकों द्वारा किया जाने लगा।

परन्तु यह कहना अनिवार्य होगा कि हिंदी साहित्य और समाज की मानसिकता में अभी भी किन्नर विमर्श अपरिपक्व अवस्था में है। समाज की विचारधारा इन्हें स्वीकार करने में हिचक रही है। फिर भी यह माना जा सकता है कि दिन प्रतिदिन विकसित हो रहे समाज ने अब इन्हें भी थोड़ी सी ही सही, पर जगह देना शुरू कर दिया है और शीघ्र ही हम यह देखना चाहेंगे कि ये भी समाज के सामान्य लोगों की भांति अपने मानवाधिकारों के साथ जीवनयापन कर सकें।

आज के हालात कुछ और हैं। हमारी पौराणिक कथाओं में भी इनका सम्मान करने का वर्णन मिलता है परन्तु इतना सब कुछ होने के बावजूद भी आज हमारा समाज इन्हें स्वीकार करने में हिचकिचाता है, और इन्हें हेय दृष्टि से देखता है। ये आज भी जब बिना बुलाये अपने आप ही उन जगहों पर पहुँच जाते हैं जहाँ कोई शुभ कार्य हो जैसे नवजात शिशु का जन्मोत्सव हो या कोई शादी विवाह का माहौल हो तो समाज में उन्हें सम्मान देना तो दूर उनके सामने जाने से भी कतराते हैं

और कोई न कोई बहाना बनाकर उन्हें भगाने की कोशिश करते हैं। जब वे नहीं जाते हैं और दरवाजे पर नाच गाना शुरू कर देते हैं तब गृहस्थ लोगों को ऐसा महसूस होता है या कहा जा सकता है कि वे डर जाते हैं कि यदि इन्हें जल्द से जल्द यहाँ से कुछ देकर नहीं भेजा तो शायद कहीं उनके द्वारा दिए हुए श्राप से हमारे परिवार का अहित न हो जाये। तब उनके द्वारा मुँह माँगी रकम को साग-भाजी की तरह मोल-भाव कर उन्हें वह रकम देकर उनकी विदाई ऐसे करते हैं मनो बला टली। उनकी रकम की दरमुलाई करते समय शायद हम ये भूल जाते हैं कि हमारे द्वारा जो दिया जाता है, या कह सकते हैं कि यही उनकी आमदनी का एक मात्र जरीया होता है। इसी से वे अपनी रोजी-रोटी चलाते हैं। इन्हीं सबको लेकर

वरिष्ठ लेखिका चित्रा मुद्गल के उपन्यास पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा में इनका (किन्नरों) का चित्रण बहुत संजीदगी से किया गया है।

हमें इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए इस सोच से ऊपर उठकर आना है। हम यानी समाज हैं। समाज तो हमसे ही बना है अतः हमें पहल करनी चाहिए। हम पहल करेंगे तो समाज भी उसका पालन करेगा। समाज के साथ शहर भी और फिर यह देश शायद किन्नरों के रहने लायक एक सुखद सम्मानजनक एवं सुरक्षित जगह बन जाये। इसी आशा के साथ मेरे इन शब्दों के माध्यम से शायद आप सबके भीतर किन्नरों के प्रति दयालुता एवं उनकी रक्षा हेतु भड़की हुई ज्वाला शांत हो सके।

संपर्क : 11-डी, गोपाल बोस लेन  
कोलकाता-700009  
मोबाइल नं.- 9903508796



## गाँधी की राजनीतिक दृष्टि

मिथिलेश

गाँधी जब राज व्यवस्था पर अपने विचार प्रकट करते हैं तो वे यह सवाल उठाते हैं कि क्या कोई अहिंसक राजनीतिक व्यवस्था भी हो सकती है जो प्रेम के नियम को पुष्ट करती हो? एक ओर जब राज्य को वह शक्तिसंपन्न और हिंसा का संगठित रूप कहते हैं, तब राज्य की क्या कोई दूसरी कल्पना उनके मन में थी, यह देखना बहुत प्रासंगिक है। राज्य जो मूल रूप से हिंसक होता है, जिसकी प्रवृत्ति हिंसा की होती है सामान्यतः राज्य के नागरिक उसे हिंसा के तौर पर नहीं देखते हैं। वस्तुतः उसे उसकी अनिवार्य लागत के तौर पर देखते हैं, क्योंकि राज्य उनके हितों की रक्षा करता है तो उसकी हिंसा को वे चुपचाप सहन करते हैं। इसी तरह संसदीय लोकतंत्र, जिसे लोकतंत्र का एक स्वरूप माना जाता है, क्या वह अपने आप में लोकतंत्र के मूल्यों पर खरा उतरता है? यह सवाल गाँधी बार-बार उठाते हैं कि क्या संसदीय लोकतंत्र में लोगों के हितों को ज्यादा महत्व दिया जाता है या दल के हितों को? यह सवाल आज भी प्रासंगिक है।

क्या संप्रभुता की कोई अहिंसक अवधारणा हो सकती है? क्या अहिंसक संप्रभुता हो सकती है? क्या केंद्रीकरण, जो राज्य का मूल स्वरूप होता है, क्या वह भी विकेंद्रित राज्य में तब्दील हो सकता है? ऐसे बहुत

सारे सवाल हैं जो गाँधी की राजनीतिक दृष्टि में मौजूद हैं। गाँधी उनके विकल्पों पर विचार करते हुए एक विकल्प हम लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतः राज की अवधारणा एक पिरामिडीय संरचना के तौर पर देखी जाती है जिसमें केंद्र राज्य की शक्ति में केंद्रित होता है और जिसके आधार में लोग रहते हैं। व्यक्तियों के बारे में नीति केंद्र द्वारा बनाई जाती है जहाँ यह आवश्यक नहीं है कि उनसे कोई पूछताछ की जाए या उनसे उनके बारे में कोई जानकारी प्राप्त की जाए। गाँधी इस संरचना का विरोध करते हुए होरिजॉन्टल पावर की बात करते हैं जिसे वह महासागरीय वलय की अवधारणा भी कहते हैं। इस अवधारणा में सत्ता एक केंद्र में नहीं बल्कि समान स्तर पर बँटे रहती है। सभी महत्त्वपूर्ण होते हैं लेकिन एक-दूसरे का सहयोग

करते हैं। सत्ता सभी के सहयोग से ही बनी रहती है। वस्तुतः यह राज्य की सत्ता की अवधारणा में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के तौर पर देखा जाना चाहिए। यहीं पर गाँधी केंद्रीकरण को विकेंद्रीकरण में परिवर्तित करते हैं। यहाँ संप्रभुता का एक समान स्तरीय बंटवारा होता है और लोग सशक्त होते हैं। आज जिसे हम जनसहभागिता या लोक भागीदारी कहते हैं वह गाँधी की इसी अवधारणा का एक सशक्त और प्रत्यक्ष उदाहरण है।



संप्रभुता की इस अवधारणा (महासागरीय वलय) में व्यक्ति महत्वपूर्ण हो जाते हैं और अपने आप में संप्रभु भी। स्वराज वस्तुतः ऐसे ही संप्रभु व्यक्तियों द्वारा संभव है। स्वराज, जिस पर गाँधी बहुत बल देते थे, वह संप्रभुता की अवधारणा ही सही लोकतंत्र को परिभाषित करती है। ऐसी संप्रभुता, जिसमें हर व्यक्ति संप्रभु हो और परस्पर अन्योन्याश्रित प्रक्रिया के द्वारा ही लोगों से जुड़ा हुआ हो। वे स्वयं चेता हो, लेकिन दूसरों के हितों की भी परवाह अपने हितों के बराबर करता हो। गाँधी की यह अवधारणा वास्तविक विकेंद्रीकरण की अवधारणा को प्रस्तुत करती है। इसी बिंदु पर गाँधी राजनीति का उद्देश्य स्वराज की स्थापना भी मानते हैं और ग्राम स्वराज्य के सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं। इसे उनके राजनीतिक सिद्धांत के तौर पर भी देखना चाहिए, जो राजनीतिक संप्रभुता की समस्तरीय संरचना का सबसे व्यावहारिक उदाहरण कहा जा सकता है। यहाँ राज्य मिट नहीं जाता है बल्कि अपनी भूमिका को बदलकर शासन के स्थान पर सहयोगी संस्था के रूप में हो जाता है और विभिन्न स्तरों पर समन्वय संस्था के तौर पर कार्य करता है।

वस्तुतः गाँधी के राजनीतिक दृष्टि का आधार मनुष्य की उनकी अवधारणा 'मनुष्य मूलतः अच्छा है और प्रकृति के नियम के हिसाब से वह अहिंसा का पालन करता है' से समझा जा सकता है। आज राजनीतिक दृष्टि का उद्देश्य भी इसी अनुसार बनना चाहिए। राजनीति का उद्देश्य मनुष्य की इसी अच्छाई को प्रेरित करने वाला होना चाहिए। ऐसे संस्थान बनाए जाने चाहिए जो उसे अच्छाई की ओर प्रेरित कर सकें और मनुष्य के समाज में जो बुराई उपस्थित है उसे कम से कम किया जाना चाहिए और ऐसा करते हुए भी अहिंसा के साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। गाँधी के राजनीतिक दृष्टि का मूल इन बिंदुओं में ही खोजा जा सकता है।

## गाँधी एवं स्वराज

उनके राजनीति दर्शन को समझने के लिए 'स्वराज' की उनकी धारणा को समझना होगा। गाँधी जब स्वराज की बात करते हैं तब उनका लक्ष्य संसाधनों पर समस्त लोगों के समान अधिकार को मानना होता है, बजाय इसके कि कुछ लोगों का संसाधनों पर नियंत्रण रहे। ऐसा करते हुए वह बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक में कोई भेद नहीं करते हैं। गाँधी के अनुसार वस्तुतः राज्य का उद्देश्य शासन करना नहीं होता है बल्कि सत्य की खोज करना हो जाता है। उस सत्य की खोज करना जहाँ सभी व्यक्ति मूल रूप से अच्छे हैं और उनके बीच परस्पर सौहार्दपूर्ण संबंध हैं। इन्हीं संबंधों को बनाए रखना तथा उसके लिए सहयोग करना ही राज्य का उद्देश्य हो जाता है और इसे प्राप्त करने की कला सत्याग्रह है। सत्ता के विकेंद्रीकरण से लोग सशक्त होते हैं, नीति स्पष्ट होती है और नियम लोगों के हितों के अनुकूल बनते हैं जो सामूहिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। राज्य शक्ति का न्यूनतम प्रयोग करता है। लोग आपसी हितों के आधार पर अपने विवादों का निपटारा करते हैं। समाज मजबूत बनता है। इसीलिए गाँधी एक अराजकतावादी की तरह कहते हैं कि सरकार का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए। समुदाय को सशक्त होना चाहिए और अपने लोगों के हितों को इस तरीके से पूरा करना चाहिए कि अविरोध की स्थिति उत्पन्न न हो।

'स्वराज' की परिकल्पना में उन्होंने सरकार की जरूरत को स्वीकार किया, लेकिन उनके अनुसार ऐसी सरकार के कार्यकलाप नाममात्र के ही होने चाहिए। उनका विचार था कि समाज के सबसे ऊपर और सबसे निचले वर्ग के कुछ ही लोग ऐसे हैं, जिन्हें नियंत्रित कर लिया जाए, तो सरकार का काम पूरा हो जाता है। देश के अधिकतर लोगों के लिए सरकार की कोई जरूरत नहीं है। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ सकती है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी अंतःश्वेतना के आधार पर स्वतः ही संचालित

होगा। ऐसी स्थिति में किसी को भी सरकार की जरूरत नहीं होगी। यह उनके चरम आदर्श 'रामराज्य' की कल्पना थी।<sup>1</sup> उनके लिए स्वराज्य दूसरों पर शासन न होकर आत्मानुशासन है। जिसमें व्यक्ति स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए वे अपने को टालस्टाय की भांति अहिंसक अराजकतावादी भी कहते हैं। गाँधी के लिए स्वाधीनता से बढ़कर स्वराज का महत्त्व था।

'आज स्वाधीनता से हम यह समझते हैं कि अपनी जाति के अधीन एक शासन, जो शासन समाज के सारे जीवन का नियंत्रण करना चाहता है। स्वराज्य का अर्थ है, एक ऐसी व्यवस्था, जहाँ प्रत्येक मनुष्य के अपने जीवन पर उसका अधिकार अनेकांश में अक्षुण्ण है। समाज के बड़े काम करने के लिए वह अन्य लोगों के साथ स्वेच्छा से सहयोग करता है और सहयोगिता की जो व्यवस्था बन जाती है, वह शासन या दंड के द्वारा मनुष्य को नहीं चलाती है।'<sup>2</sup>

गाँधी के यहाँ अधिकार प्राप्ति के लिए कर्तव्य का पालन जरूरी है। गाँधी की नजर में अधिकार कर्तव्य के पीछे-पीछे चलते हैं। इसलिए उन्होंने अधिकार से ज्यादा कर्तव्य पर जोर दिया क्योंकि उनके अनुसार कर्तव्य के जरीये ही अधिकार की प्राप्ति हो सकती है।

गाँधी के लिए महज राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही पर्याप्त न थी। इसलिए जब देश भर में आजादी का जश्न मनाया जा रहा था, गाँधी ने उन समारोहों में हिस्सा नहीं लिया। जब हिंदुस्तान की सरकार के सूचना और प्रसारण विभाग का एक अधिकारी गाँधी के पास उनके संदेश के लिए आया तो उन्होंने जवाब दिया कि 'मैंने मैदान छोड़ दिया है।' जब उनसे फिर से आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा, 'मुझे कोई भी संदेश नहीं देना है। यदि ऐसा करना बुरा है तो होता रहे।'<sup>4</sup> इससे स्पष्ट है कि गाँधी सीमित अर्थों की इस आजादी से संतुष्ट नहीं थे। मार्क्सवादी लेखक राजनीपाम दत्त भी लिखते हैं कि, 'साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग दोनों का हित

इसी में था कि जनसाधारण की क्रांति को रोका जाए। इन दोनों के बीच सौदेबाजी का नतीजा था माउंटबेटन समझौते का सुलहवादी स्वरूप। इस वजह से आजादी के स्वरूप और उसकी शर्तों को शुरुआत में ही बड़े गंभीर रूप से सीमित होना ही था। ऐसा ही हुआ भी। गाँधी ने वास्तव में इस समझौते को यह कहकर खारिज कर दिया कि यह स्वराज की उनकी धारणा के अनुकूल नहीं है। उन्होंने अगस्त 1947 के जश्नों में भाग तक नहीं लिया।<sup>5</sup> हत्या के चार दिन पूर्व 1948 के गणतंत्र दिवस के अवसर पर गाँधी ने कहा, '26 जनवरी का यह दिन गणतंत्र दिवस है। इसे मनाना तब बड़ा सही था जब हम उस आजादी के लिए लड़ रहे थे, जिसे न हमने देखा था न ही जिसका संचालन किया था। अब हमने इसका संचालन कर लिया है और हमारा मोहभंग हो गया है, कम से कम मेरा तो हुआ है, आपका भले ही न हुआ हो।'<sup>6</sup> क्योंकि गाँधी के लिए स्वराज्य का अर्थ अंग्रेजों की अनुपस्थिति मात्र नहीं था।

गाँधी राजनीतिक आजादी को अधूरा मानकर चुप नहीं बैठते। 26 जून, 1947 को दिल्ली में उनसे मुलाकात करने आए दो लोगों से अपनी बातचीत में वे कहते हैं कि, 'आज जो आजादी हमें मिलने ही वाली है, उससे मैं तनिक भी संतुष्ट नहीं हूँ; कारण, मेरे आजादी की कल्पना बिल्कुल भिन्न है। मैं केवल राजनीतिक दृष्टि से ही आजाद होना नहीं चाहता।'<sup>7</sup> इसलिए गाँधी देश के हर नागरिक को 'राजनीतिक तालीम' देने की बात करते हैं। और इस तालीम में आने वाली सरकारी दखलअंदाजी अथवा रुकावटों से भी दो-दो हाथ करने की बात करते हैं। वे जनता के राजनीतिक तालीम की पहचान बुनियादी हक के रूप में करते हैं और वे मानते हैं कि, 'इस बुनियादी हक के बिना स्वराज्य मिल ही नहीं सकता।'<sup>9</sup> जो लोग गाँधी पर मध्यवर्ग, पूँजीपतियों-सामंतों-जमींदारों का पक्षधर होने का आरोप लगाते हैं, उन्हें गाँधी के राजनीतिक दर्शन को भली-भांति समझना होगा।

राष्ट्रीय रंगमंच पर आए हुए अपने पूर्ववर्ती राजनेताओं से गाँधीजी इस अर्थ में भिन्न थे कि उन्होंने चुने हुए कुछ विशिष्ट लोगों की राजनीति को टुकराकर जनांदोलन की कुंजी लाकर सामने रख दी। वे एक ऐसे नेता थे, जिनका जनता के दिल और दिमाग से गहरा संपर्क था, जो उसकी व्याख्या करने के साथ ही साथ उसे अपने विचारों के अनुरूप ढाल सकता था। वे यदि लहर के उतुंग शिखर थे तो वह लहर स्वयं जनता ही थी।<sup>10</sup> जनता पर उनका असीम भरोसा था। विकेन्द्रीकरण, कर्तव्य पर जोर, व्यक्ति स्वतंत्रता सहित रामराज्य की उनकी कल्पना के पीछे जनता में उनकी अगाध श्रद्धा ही थी। वे शासन-सत्ता के मुखापेक्षी बने रहने के बजाय जीवन के हर क्षेत्र में आम जनता की अहिंसक पहलकदमियों को इतना बढ़ा देना चाहते हैं, ताकि सत्ता का औचित्य ही समाप्त हो जाय।

### गाँधी का लोकतंत्र

गाँधी लोकतंत्र के प्रचलित स्वरूप से संतुष्ट नहीं थे। उनके लोकतंत्र में गांव को इकाई माना गया है। उनका सच्चा लोकतंत्र केंद्र में बैठे बीस लोगों के द्वारा नहीं चलाया जा सकता। इसका संचालन तो नीचे से, हर गाँव के लोग करेंगे।<sup>11</sup> वे लोकतंत्र में जनता की इच्छा को सर्वोपरि<sup>12</sup> मानते थे। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पुरजोर वकालत करते हुए वे कहते हैं कि, वाणी और लेखनी की स्वतंत्रता स्वराज की आधारशिला है। अपनी पूरी ताकत लगाकर वे इसकी रक्षा करने की बात कहते हैं। इसी कारण वे मुट्टी भर लोगों द्वारा सत्ता प्राप्ति के बजाय जनता में प्रतिरोध का सामर्थ्य विकसित करते हुए स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं।<sup>13</sup> और उनके लिए स्वराज का अर्थ है सब लोगों का शासन, न्याय का शासन। इस शासन में, मंत्री चाहे हिंदू हों, मुसलमान हों या सिख हों और विधानसभाओं के सदस्य चाहे केवल हिंदू हों, केवल मुसलमान हों अथवा किसी अन्य समुदाय के हों, सबको निष्पक्ष न्याय<sup>14</sup> करना होगा। गाँधी के लिए 'स्वराज

का अर्थ है सरकार के नियंत्रण से मुक्त होने का सतत प्रयास, यह सरकार विदेशी हो अथवा राष्ट्रीय।'<sup>15</sup> सत्ता द्वारा जनता पर किसी प्रकार के नियंत्रण को वे व्यक्ति स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं।

आमतौर पर यह माना जाता है कि जनता को सत्ता विधायिका के जरीये प्राप्त होती है। इस मान्यता के विपरीत गाँधी सत्ता का मूल स्रोत जनता में निहित मानते हैं। वे मानते हैं कि, 'सत्ता जनता के बीच रहती है, जनता की होती है और जनता समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों की हैसियत से जिनको पसंद करती है, उतने समय के लिए उसे सौंप देती है।'<sup>16</sup> जनता से भिन्न अथवा स्वतंत्र विधायिका की किसी सत्ता को गाँधी वैध नहीं मानते। गाँधी सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थे। केंद्रीकृत सत्ता से निरंकुशता का खतरा बना रहता है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण से उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है। इसलिए गाँधी ने ग्राम स्वराज्य की स्थापना पर जोर दिया था। इस ग्राम स्वराज्य में सत्ता और राज्य का दखल कम से कम हो। गाँधी मानते थे कि राज्य से मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषता को क्षति पहुँचती है।

गाँधी के लिए दलीय लोकतंत्र ही लोकतंत्र का अंतिम स्वरूप नहीं है, उसमें विकास की गुंजाइश है। चर्चित साहित्यकार जैनेन्द्र उम्मीद करते हैं कि, ऐसा कुछ यदि भारतवर्ष संभव करके दिखा सका तो गाँधीजी से आरंभ हुई परंपरा सफल हुई मानी जायेगी।<sup>17</sup> लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इसके विपरीत आज दुनिया के सभी देश दुर्बल वर्ग के प्रति अहसान दिखाने का ढोंग करते हैं।... जनतंत्र की गाँधी की धारणा में दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति को वही अवसर मिलेगा जो बलवान से बलवान व्यक्ति को मिलता है।<sup>18</sup> गाँधी अब्राहम लिंकन के लोकतंत्र का अर्थ बताते हुए कहते हैं; 'जनता के लिए जनता द्वारा जनता का शासन' का अर्थ है- 'शुद्ध अहिंसात्मक शासन।' हिंसात्मक जनतंत्र हिंसात्मक उपायों द्वारा समस्त विरोध पक्ष को दबा देता है या समाप्त कर देता है। इसमें व्यक्ति

की स्वाधीनता की गुंजाइश नहीं।<sup>19</sup> इसलिए प्रचलित लोकतंत्र से गाँधी संतुष्ट होकर चुप बैठने के बजाय इसे वास्तविक अर्थों के लोकतंत्र में तब्दील करने के लिए अंत तक प्रयत्नशील रहते हैं।

अपने इन्हीं विचारों के कारण गाँधी संसदीय लोकतंत्र को अंतिम आदर्श मानने को तैयार नहीं थे। बल्कि उन्होंने तो ब्रिटिश पार्लियामेंट, जिसे पार्लियामेंटों की माता कहा जाता है, को 'बांझ' और 'वेश्या' तक करार दिया। वैसे संसदीय लोकतंत्र को अन्य विद्वानों और दार्शनिकों ने भी शक की निगाह से देखा है। लेकिन गाँधी ने उसे भिन्न नज़रिए से देखने-समझने और अहिंसक जनांदोलनों के जरीये बदलने की कोशिश की है। आजादी के बाद संसदीय किस्म की शासन व्यवस्था को उन्होंने तात्कालिक अनिवार्यता के रूप में ही कबूल किया था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि, चूंकि पार्लियामेंटी शासन व्यवस्था में निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं इसलिए यह परस्पर अनुकूल समूहों में ही ठीक-ठीक काम देता है। लेकिन भारत में जहाँ अंग्रेजी हुकूमत ने सांप्रदायिक आधार पर जनता को विभाजित कर मतदाताओं के अलग-अलग गिरोह खड़े कर दिये हुए हैं और बनावटी दीवारें बना दी हैं वहाँ पार्लियामेंटी शासन-पद्धति का दिखावा ही किया जा सकता है। गाँधी कहते हैं कि, 'ऐसी अलग-अलग और बनावटी इकाइयों को, जिनमें आपसी मेल नहीं है, एक ही मंच पर एक-से काम के लिए इकट्ठा करने से जीती-जागती एकता कभी पैदा नहीं हो सकती।'<sup>20</sup> गाँधी बहुमत की तानाशाही के स्थान पर एक ऐसे नवीन ग्राम गणराज्य, जिसे अक्सर भारत के पुराने ग्रामीण शासन से जोड़ दिया जाता है, जो सही नहीं है, के माध्यम से एक ऐसे शासन की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें अल्पमत की आवाज को भी सही होने के बावजूद महज बहुमत के आधार पर दबाया न जा सकेगा। वे दूसरों द्वारा थोपे गए अनुशासन के बजाय आत्मानुशासन के हिमायती थे।

वस्तुतः गाँधी सरकार को जनता के अधिकार में लाकर असली गणतंत्र की प्रतिष्ठा करना चाहते थे।<sup>21</sup> सरकार की, पुलिस की या फ़ौज की ताकत, फिर वह कितनी ही जबर्दस्त क्यों न हो, थोड़े ही लोगों को दबाने में कारगर होती है। लेकिन जब समूचा राष्ट्र सब कुछ सहने को तैयार हो जाता है, तो उसके दृढ़ संकल्प को डिगाने में किसी पुलिस की या फ़ौज की कोई जबर्दस्ती काम नहीं देती।<sup>22</sup> आधुनिक युग में ऐसी सरकारों का अभाव नहीं है जो बहुत खुले तौर पर उच्च वर्ग द्वारा शासन का उपकरण हैं जैसा कि उन आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में है जहाँ एक अशिक्षित, असंगठित और उत्साहहीन कृषक वर्ग पर भूस्वामियों का प्रभुत्व है।<sup>23</sup>

गाँधी अपने को अहिंसक अराजकतावादी बताते हुए राज्य का खात्मा चाहते हैं। उनकी कल्पना के स्वराज्य, जो ग्राम स्वराज्य अथवा 'रामराज्य' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, वह राज्य शक्ति का लोप चाहता है। गाँधी सत्ता और शक्ति को इतना विकेंद्रित कर देना चाहते हैं कि राज्य अपने आप अपनी अहमियत खो देगा। साम्यवाद जहाँ अंतिम तौर पर सरकारों का संसार से सम्पूर्ण रूप से लोप का हिमायती है, वहीं गाँधीजी राजशक्ति का सम्पूर्ण रूप से लोप चाहते हुए भी सोचते हैं कि जब तक पृथ्वी पर मनुष्य-समाज है, तब तक शायद राज्य शक्ति की भी आवश्यकता रहेगी। इसलिए गाँधी इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि किस प्रकार स्वेच्छ से निर्माण की हुई संस्थाएँ संसार में बढ़ा दी जाएँ और सरकार की नियंत्रण करने की शक्ति को कम किया जाय।<sup>24</sup> गाँधी राज्य को हिंसा का मूल स्रोत मानते हैं। गाँधी का स्वदेशी भी अपने मूल रूप में भारत में नये अर्थात् भारतीय राज्य की स्थापना का सिद्धांत है। गाँधीवादी चिंतक राजीव वोरा लिखते हैं कि, उसे महज आर्थिक क्षेत्र का या उसके एक पक्ष, अर्थात् टेक्नोलॉजी तक ही सीमित करके देखने का चलन पिछले कुछ दशकों से रहा। परिणामस्वरूप स्वदेशी में किसी प्रकार की शक्ति का संचार नहीं हुआ। गाँधीजी का कहना कि स्वदेशी के

बिना स्वराज की कल्पना नहीं की जा सकती तथा स्वराज एवं रामराज्य एक ही है। यह स्पष्ट करता है कि स्वदेशी का विचार राज्य स्थापना का सिद्धांत है। किसी भी सभ्यता पर जब विदेशी राज्य की स्थापना हो जाती है, तब अपने राज्य की स्थापना का इच्छुक समूह संघों की रचना करता है। उसी प्रकार गाँधीजी ने भी अपने समय में अनेक विविध संघों की रचना तो की, लेकिन उनके निधन के बाद दृष्टि के अभाव में उन संघों की शक्ति का लोप हो गया।<sup>25</sup> फलस्वरूप जनता पर सत्ता हावी होती चली जा रही है। गाँधी सत्ता संचालन में आमलोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी को स्थान देते हैं। उन्होंने सर्वोदय दर्शन के आधार पर समाज के अंतिम व्यक्ति को केंद्र में रखते हुए ऐसे समाज निर्माण का सपना देखा था।

### व्यक्ति स्वातंत्र्य

गाँधी के राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति स्वातंत्रता की काफी अहमियत है। उनकी स्वातंत्रता की अवधारणा में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा का उपयोग करने की आजादी की बात की गई है। किंतु किसी व्यक्ति को अपनी प्रतिभा से होने वाले लाभों के मनमाने उपयोग का अधिकार उन्हें स्वीकार नहीं था। वे व्यक्ति को राष्ट्र अथवा, अपने चहुँओर विद्यमान सामाजिक संरचना का अंग मानते हैं। इसलिए व्यक्ति को अपनी प्रतिभा का उपयोग केवल स्वहित में न कर उस सामाजिक संरचना के हित में करना चाहिए जिससे वह सम्बद्ध है।<sup>26</sup> गाँधी के भारत की आजादी की आकांक्षा में दुनिया की हरेक प्रजाति की आजादी की भावना निहित है।<sup>27</sup> इस अर्थ में गाँधी की स्वातंत्रता की आकांक्षा अत्यंत ही व्यापक हो

जाती है। वस्तुतः वे भारत की मुक्ति के जरीये दुनिया की सभी तथाकथित दुर्बल प्रजातियों को पाश्चात्य शोषण से मुक्त कराना चाहते हैं।<sup>28</sup> गाँधी हर व्यक्ति की स्वातंत्रता तो चाहते हैं किन्तु उनका यह व्यक्ति स्वातंत्र्य नैतिक अर्थों में किसी दूसरे की स्वातंत्रता का अतिक्रमण नहीं करता।

गाँधी के लिए स्वातंत्रता का अर्थ केवल भौगोलिक अथवा राजनीतिक स्वातंत्रता मात्र नहीं है। उनके लिए मनुष्य की स्वातंत्रता का अर्थ उसके अधिकतम स्वावलंबन से है। उनके अनुसार यदि मनुष्य को स्वातंत्रता

का आनंद लेना हो तो

*पाश्चात्य स्रोतों पर राजनीतिक चिंतन की इमारत खड़ी करने के बजाय गाँधी ने लोकप्रिय धार्मिक प्रतीकों का सहारा लिया था। 'गाँधी की सफलता का जितना बड़ा कारण राजनीति में एक नए मुहावरे का इस्तेमाल था उतनी ही बड़ी वजह यह भी थी कि गाँधी को भारतीय समाज की संरचना की सही समझ थी*

‘प्रत्येक मनुष्य को रोज़मर्रा के उपयोग की जिस चीज़ की जरूरत हो, उसे स्वयं पैदा करना सीख ले।’ वे इतने पर ही नहीं रुकते बल्कि आगे

बढ़कर कहते हैं कि, ‘जो चीज़ आदमी खुद पैदा न कर सके, उसके बिना काम चला लेना चाहिए। इससे स्वावलंबन बढ़ेगा और वह उत्तरोत्तर प्रगति करेगा।’ गाँधी की दृष्टि में स्वावलंबन स्वातंत्रता की बुनियाद है और परावलंबन गुलामी की निशानी। वे आवश्यकताओं को बढ़ाने पर आधारित पूंजीवादी अर्थनीति को मनुष्य को परावलंबी और अंततः गुलाम बनाने वाला मानते हैं। उनके अनुसार पूंजीवाद का नाश एक तरफ इसके खिलाफ शोर मचाकर और दूसरी तरफ अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते जाने से नहीं हो सकता। बल्कि गाँधी तो अपनी आवश्यकताओं को कम करने तथा अधिकतम स्वावलंबन में ही पूंजीवाद का नाश<sup>29</sup> देखते हैं। यही कारण है कि गाँधी पूंजीपतियों का जबर्दस्ती नाश करने में न तो किसी प्रकार के त्याग का दर्शन ही कर पाते हैं और न ही इसमें कोई बहादुरी<sup>30</sup> ही देखते हैं।

गाँधी अपने आध्यात्मिक प्रयोगों<sup>31</sup> के जरीये

ही राजनीतिक क्षेत्र में प्रेरणा ग्रहण करते हैं। दास्तोएव्स्की ने भी रूस के संदर्भ में लिखा है कि, 'अंततः हम समझने लगे हैं कि हम स्पष्टतया परिभाषित और मौलिक चरित्र के राष्ट्र हैं और हमारी समस्या एक नई जीवन-पद्धति विकसित करने की है, जो हमारी मिट्टी की उपज हो और लोक परंपराओं से जीवनी-शक्ति लेती हो।'<sup>32</sup> दास्तोएव्स्की यूरोप की भौतिक प्रगति में तबाही का अक्स देखते हैं। वे कहते हैं, 'ये ईश्वरविहीन देश। ये मनुष्य निर्मित ईश्वर के देश, संपदा, हिसाब-किताब, विज्ञान के साथ अपनी कृत्रिमता के बोझ से दफन हो रहे हैं। मुक्ति की तलाश जन से शुरू होनी चाहिए- उन सीधे सरल रूसी जनों से, जिनमें शैशव की आस्था आज भी विद्यमान है और इतिहास के द्वार पर प्रहार करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।'<sup>33</sup> दास्तोएव्स्की लिखते हैं कि, 'पश्चिम ने क्राइस्ट को खो दिया है।... यही कारण है कि पश्चिम मर रहा है। अन्य कोई कारण नहीं।'<sup>34</sup> गाँधी भी भारत में नई जीवन शैली और नई राजनीति के अग्रदूत थे। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके रामराज्य को समझने की जरूरत है।

पाश्चात्य स्रोतों पर राजनीतिक चिंतन की इमारत खड़ी करने के बजाय गाँधी ने लोकप्रिय धार्मिक प्रतीकों का सहारा लिया था। 'गाँधी की सफलता का जितना बड़ा कारण राजनीति में एक नए मुहावरे का इस्तेमाल था उतनी ही बड़ी वजह यह भी थी कि गाँधी को भारतीय समाज की संरचना की सही समझ थी और उनको व्यक्ति की सामाजिक वफ़ादारियों की गहरी पहचान भी थी तथा वे जानते थे कि इन वफ़ादारियों का उपयोग राजनीतिक कार्रवाई के लिए कैसे किया जा सकता है। गाँधी के पूर्ववर्ती तथा समकालीन राजनीतिज्ञों में से अधिकांश भारतीय समाज को एक संश्लिष्ट समाज मानकर चल रहे थे, इसलिए वे व्यापक जनाधार वाले राजनीतिक आंदोलन खड़े नहीं कर पाये। वे भारत की असली तस्वीर को देख रहे थे, चूँकि वह समझ रहे थे कि यह देश तरह-तरह के वर्गों, समुदायों और धार्मिक समूहों का

एक जमघट है, इसलिए वे इस उपमहाद्वीप के लोगों में 'न भूतो न भविष्यति' कोटि की जागरूकता पैदा कर पाये।'<sup>35</sup>

यही कारण है कि गाँधी अपने अर्थों के धर्म का राजनीति से अनिवार्य संबंध स्थापित करते हैं। उनके आंदोलनों का धार्मिक पहलू तो जगजाहिर रहा है, किन्तु उसे ठीक संदर्भ में शायद ही समझा गया हो। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में असहयोग आंदोलन राजनीतिक चेतना, सुधारवाद, परंपरावाद और धार्मिकता का अद्भुत सम्मिश्रण था। जहाँ धार्मिक परंपरा पर आश्रित खिलाफत की पुष्टि उसका लक्ष्य था, वहाँ कतिपय धार्मिक परंपराओं को सुधारकर अस्पृश्यता निवारण उसके कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग था। स्वराज्य के निमित्त राजनीतिक चेतना का विस्तार और खिलाफत संबंधी धार्मिक भावनाओं की पुष्टि, दोनों ही उसके महत्वपूर्ण कार्य थे।<sup>36</sup> असहयोग आंदोलन ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं तथा जनता में प्रतिरोध की भावनाओं को पुष्ट किया तथा देश को गाँधीजी का नेतृत्व और स्वतंत्रता-संघर्ष का नया उपकरण प्रदान किया। पर खिलाफत आंदोलन ने मुसलमानों में जितनी राजनीतिक जागृति पैदा की, उससे अधिक उनमें धार्मिक भावनाओं को पुष्ट किया और दोनों ने उग्र सांप्रदायिक राजनीति का रूप धारण कर लिया।<sup>37</sup> वस्तुतः यह गाँधी के इस आंदोलन के कारण हुआ, ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। गाँधी के सर्वधर्म समभाव ने तो देश में सांप्रदायिक एकता लाने में ऐतिहासिक भूमिका ही अदा की थी। ब्रिटिश हुकूमत की फूट डालो और राज करो की नीति एवं निहित स्वार्थी सांप्रदायिक संकीर्णतावादी ताकतों ने ही देश में सांप्रदायिक विद्वेष उत्पन्न कर इस कड़ी को छिन्न-भिन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। गाँधी के रामराज्य में नस्ल, जाति, धर्म, संप्रदाय, लिंग अथवा आर्थिक आधार पर भेदभाव का पूर्णतः निषेध किया गया है।

संदर्भ

1. रत्नू, कृष्ण कुमार, गाँधी दर्शन : नई सदी के बदलते संदर्भ, पूर्वोक्त, पृ. 208-09
2. बसु, निर्मल कुमार, गाँधीजी क्या चाहते थे ?, पूर्वोक्त, पृ. 18
3. गाँधी, म. क., इंडियन ओपिनियन, 20 जून, 1908
4. तेंदुलकर, डी.जी., महात्मा : लाइफ ऑफ मोहनदास करमचंद गाँधी, खंड-8, पृ. 95-96
5. दत्त, राजनीपाम, आज का भारत, पूर्वोक्त, पृ. 8-9
6. तेंदुलकर, डी.जी., महात्मा : लाइफ ऑफ मोहनदास करमचंद गाँधी, खंड-8, पृ. 333
7. संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-88, पृ. 190
8. गाँधी, म.क., रचनात्मक कार्यक्रम, पूर्वोक्त, पृ. 27
9. वही.
10. इंदिरा गाँधी, 'गाँधी की विरासतें।'(आलेख), महात्मा गाँधी 100 वर्ष, संपादक, एस. राधाकृष्णन, सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, जून 1969, पृ. 92-93
11. गाँधी, म.क., हरिजन, 18 जनवरी, 1948
12. गाँधी, म.क., हरिजन, 14 दिसंबर, 1947
13. गाँधी, म. क., यंग इंडिया, 6 अगस्त, 1925
14. गाँधी, म. क., यंग इंडिया, 16 अप्रैल, 1931
15. गाँधी, म.क., यंग इंडिया, 6 अगस्त, 1925
16. गाँधी, म.क., रचनात्मक कार्यक्रम, पृ.11
17. कुमार, जैनेन्द्र, अकाल पुरुष गाँधी, पूर्वोक्त, पृ. 209
18. गाँधी, म. क., हरिजन, 18 मई, 1940, पृ. 289
19. वही, 27 मई, 1938, पृ. 143
20. गाँधी, म.क., रचनात्मक कार्यक्रम, पृ. 12
21. बसु, निर्मल कुमार, गाँधीजी क्या चाहते थे ?, पृ. 35
22. गाँधी, म.क., रचनात्मक कार्यक्रम, पृ. 11
23. बॉटमोर, टी.बी., आधुनिक समाज में वर्ग, पृ. 71
24. बसु, निर्मल कुमार, गाँधीजी क्या चाहते थे ?, पूर्वोक्त, पृ. 35
25. रत्नू, कृष्ण कुमार, गाँधी दर्शन : नई सदी के बदलते

संदर्भ, पूर्वोक्त, पृ. 197

26. गाँधी, म. क., हरिजन, 2 अगस्त, 1942
27. गाँधी, म. क., यंग इंडिया, 1 अक्तूबर, 1931; गाँधी कहते हैं कि, 'अगर मैं अपने देश के लिए आजादी चाहता हूँ तो, मेरा विश्वास कीजिये, मैं यह आजादी इसलिए नहीं चाहता कि मैं समस्त मानव जाति के पांचवें हिस्से की आबादी वाले राष्ट्र के रूप में संसार की किसी अन्य प्रजाति अथवा किसी एक का भी शोषण करूँ। अगर मैं अपने देश की आजादी चाहता हूँ तो मुझे इसे हासिल करने का तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक कि मैं दुनिया की हरेक प्रजाति को, वह दुर्बल हो अथवा सबल, आजादी के इसी अधिकार का उपयोग करने का सहर्ष अवसर नहीं देता और उनके उस अधिकार की कदर नहीं करता।'
28. गाँधी, म. क., यंग इंडिया, 12 जनवरी, 1928
29. संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड-87, पृ. 260
30. वही, पृ. 266
31. गाँधी, म.क., आत्मकथा, पृ. 6
32. त्रोट, हेनरी, दास्तोएव्स्की, पृ. 143
33. वही, पृ. 151
34. त्रोट, हेनरी, दास्तोएव्स्की, पूर्वोक्त, पृ. 242
35. कुमार, रवीन्द्र, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 41-42
36. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, स्वतंत्रता संघर्ष का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 26-27
37. वही, पृ. 27-29

सहायक आचार्य,

म.गाँ.फ्यूजी गुरुजी सामाजिक कार्य अध्ययन केंद्र  
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा  
9764969689

## साँप

रत्नकुमार सांभरिया

सुबह के साढ़े आठ बजे थे। सेठ मुकुंददास दुकान चले गये। मिलन नहा-धो, नाश्ता-पानी कर सार-श्रृंगार कर चुकी थी। साड़ी की सलें चुटकी से पकड़े पिन बाँध रही थी, फोन घनघना उठा। उसने झटपट पिन लगाई और लपक कर चोंगा उठाकर कान से लगाया-“हेलो।”

“यस, मिलन मैं बोल रही हूँ, एस.पी. धर्मकँवर।”

“जी मेम, नमस्कार। कहिएगा।”

“मिलन खुशी भरी खबर है, हम दोनों के मनचाही।”

“जी मेम, बताएँ?” वह गद्गद हुई।

एस.पी. ने कक्ष में लगी तस्वीरों की ओर देखा। आँखें गोल कीं। उत्साहभरी साँस खींची और बताने लगी-“मिलन आपने सूचना दी थी न, ‘लखीनाथ का कुत्ता बदमाशों को भगाकर लौटा तो वह अपना मुँह चाट रहा था।’

“जी मेम।”

“आपकी वह सूचना बलवाइयों तक पहुँचने का महत्वपूर्ण सोर्स रही।”

“मैं समझी नहीं मेम, प्लीज बताएँ?”

“उसी बेस पर मैंने हॉस्पिटल में सर्च कराई, रात कुत्तों के काटने के कितने पेशेंट रैबिज वार्ड में भर्ती हुए?”

“फिर?” वह चौकचा, पर जिज्ञासु थी।”

“सिविल हॉस्पिटल के रैबिज वार्ड में चार लोग भर्ती मिले। दो को कुत्तों ने काटा, एक को रीछ या भालू ने पंजे मारे और एक को बंदर ने पंजा मार कर घायल किया।”

“वाह मेम, वाह। आपकी मेधा को दाद दूँ।”

“थैंक्स। मिलन एक बात और जो काबिलेगौर है।”

मन में उल्लास लिए उसने पूछा-“बताएँ मेम?”

“पुलिस रिपोर्ट के आधार पर बात पुख्ता हुई, डेरों में की गई आगजनी एम.एल.ए. और निलंबित थानेदार धारसिंह की रंजिशभरी साजिश थी।”

“यही न, भयभीत डेरे वहाँ से उठकर कहीं चले जाएँ। हवालात में बंद थानेदार और वे दोनों लुटेरे, जो पार्टी के कार्यकर्ता और एम.एल.ए. के अजीज हैं, गवाहों के अभाव में कानून के शिकंजे से बच निकलें।” मिलन ने कहा।

“यस मिलन। यू आर हण्ड्रेड पर्सेंट राइट। एकदम दुरुस्त फरमाया आपने। अब उनके शिकंजे की नाँट (गाँठ) और कस गई है।”

*ध्येय का  
बीड़ा उठाए वह  
उठ खड़ी हुई थी।  
कुहनियाँ उठा कर  
ऐसी अंगड़ाई  
तोड़ी, वर्जनाएँ  
तोड़ेगी। आँखें  
घुमाईं। भवें  
चढ़ाईं। आवक्ष  
आईने के सामने  
आई। साड़ी की  
सलें नाखूनों की  
चुटकी से सूत  
लीं।*



“वह कैसे मेम?” मिलन के रोम-रोम में खुशी की फुरेरी उठी।

“आज के अखबार पढ़े आपने?”

“सॉरी मेम। आज नौकरानी नहीं आई और मुझे ऑफिस निकलना है। टाइम नहीं मिल पाया।”

“मिलन।”

“जी मेम, फरमाएँ?”

“एम.एल.ए. की वह करतूत पार्टी की साख के लिए ताबूत की कील साबित हुई। अपनी छवि बचाने के लिए पार्टी ने उसे सोकॉज नोटिस सर्व करवाया है। पाँच साल के लिए पार्टी से निष्कासित भी किया जा सकता है, उसे।”

“वाह, वाह।” वह और प्रसन्न हुई।

“एक बात और है मिलन।”

“जी।”

“वह यह कि अपने पद और सेवानिष्ठा से गह्वारी करने वाले निलंबित एस.एच.ओ. को बर्खास्त करने का एक्शन पुलिस महकमा बाकायदा ले रहा है।”

जैसे घुमड़ते मेघ हवा के झोंकों से फट कर तितर-बितर हो जाते हैं, मिलनदेवी के अंतस की घनीभूत चिंता एस.पी. की खबर के बाद क्षीण हुई। कहने लगी— “अपना मार्ग निष्कंटक हुआ मेम, वरना ये लोग रोड़ा बनते।”

“मैं भी तो वही कहने जा रही हूँ, मिलन। आप अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाएँ। धर्म का काम है। मैं तन-मन से साथ हूँ, आपके।”

“मेम अगर उन खानाबदोशों के स्थाई आवास का बंदोबस्त हो जाता है तो शनैः शनैः संसाधन जुटते जाएँगे और गरीबी का उनका लबादा झीना होता जाएगा।”

मिलन का मन मगन और तन गगन हुआ जाता था। वह तराशी भाँहों पर हल्के-हल्के अँगुली फेरती

रही।

“मिलन वाह। आपने तो मेरे ही मुँह की बात ले ली है। मिलन, नेकियाँ मेरा धर्म रहा है। वीरानों की वाजिब समस्या पर वक्त की काई इतनी घनी हो गई, उनका घुमकड़पन सोसायटी और गवर्नमेंट को नेचूरल लगने लगा है।”

“मेम। अफसर खूब हैं, आप बेहतर इंसान हैं। आपकी शुभकामनाएँ मेरे साथ हैं। मैं आज से ही अपने काम को अंजाम देने जुटती हूँ।”

“निःसंकोच मिलन। बेगानों का कोई तो दीवाना हुआ।”

“ओ.के.।”

मिलन खड़ी-खड़ी फोन कर रही थी। उसने रिसीवर क्रेडिल पर रख दिया। ज्यों-ज्यों लक्ष्य निकट दिखाई देता था, उसकी ‘वह’ चाह बढ़ती जाती थी। गोड़ों पर सिर रखकर गोल हुई बैठ गई। खुद में खो गई। कभी भंवर, कभी भभूल्या। लखीनाथ की हथेली पर अपनी अँगुली से लिखा ‘वादा’ और सोने की डिबिया में रखा लखीनाथ की मूँछ का वह बाल उसकी याददाश्त की बही में दर्ज है, मोटे-मोटे आखरों में। पत्रे पलट-पलट उसकी आँखों के सामने आते। उसने स्वयं को बाँहों में भर लिया। कुछ सकुचाई-सी, कुछ लजाई-सी, कुछ शरमाई-सी, कुछ रिझाई-सी वह कभी बदली बन इठलाती, कभी बूँद हुई पूर्णता पाती। रीझ-सीझ दिल की घुमड़न उठती-बैठती। अजीब निवेश से वह कभी निथरती, कभी डूबती थी। उसका ‘वादा’ लखीनाथ का ‘इरादा’ और एस.पी. का उत्साहवर्द्धन।

कोख। आबरू। परहित।

कोख! कोख बूंद होती है, जात नहीं।

वह अपनी हथेली पर अँगुलियाँ फेरने लगी थी, मानो कुदरत की खिंची लकीरों को मिटाकर खुद की इबारत लिखेगी। विचारती रही, विचारती रही।

विचारती-विचारती विचारों में गुम गई।

‘दुनिया का कोई कार्य पाप-पुण्य की तुला पर एकसार नहीं होता। सत्कर्मों का पलड़ा सदैव भारी और दुष्कर्मों का पलड़ा उठा रहता है। चाह को न हहराता समन्दर डूबो सकता है, न आग की फरफराती लपटें उसे जला सकती हैं। न उसे आँधी उड़ा सकती है, न मेह भिगो सकता है। आँगन में खिले पुष्प को देखकर कौन अभागा खुश नहीं होगा।

एक लक्ष्य से दो कार्य सधते हैं। ज्ञात-अज्ञात। ज्ञात दीन-दुखियों की सेवा है। परमार्थ है। अज्ञात खुद का स्वार्थ है। मनोरथ है। वंश.....।

उन घुमन्तुओं को देखकर मन बेचैन होता है। दिन-रात का अंतर दिखाई देता है। वहाँ भूख-प्यास है, यहाँ व्रत-उपवास के चोंचले हैं। उनकी उम्मीदों पर इतना पानी फिर गया ओर-छोर तल दिखाई नहीं देते। जिंदगी और मौत का इतना कड़ा मुकाबला। जिन लोगों ने गुलामी को प्राण-वायु माना वे राजा-महाराजा हो, महल-प्रासाद पा गए। जिन्होंने पराधीनता से टक्कर ली, वे वीराने-कंगाल, दर-दर के रह गए। बेगानों का भूतकाल बेगारी और शोषण में गुज़र गया, वर्तमान बदहाली में बीत रहा है।’

ध्येय का बीड़ा उठाए वह उठ खड़ी हुई थी। कुहनियाँ उठा कर ऐसी अंगड़ाई तोड़ी, वर्जनाएँ तोड़ेगी। आँखें घुमाई। भवें चढ़ाई। आवक्ष आईने के सामने आई। साड़ी की सलें नाखूनों की चुटकी से सूत लीं।

वह होंठों पर लाली लगाए थी। माँग भरे थी। सिल्क की जैसी साड़ी, वैसी ही गुलाबी बिन्दी माथे पर चिपकी थी। कलाइयों में उसी कलर की चूड़ियाँ थीं। बैंग और सैंडिल का रंग भी वही था। वह गैराज की ओर जाती ऐसी लग रही थी, मानो भानूदय की अरुणिमा उतरी जाती हो।

जेठानी सूरतदेवी चौक में किताब पढ़ने बैठी थी। उसने कनखियाँ फिराकर मिलन को एड़ी से चोटी

तक देखा। होंठ बिचका कर बड़बड़ाई-“दो कौड़ी के सूगला से सपेरे से आँखें चार क्या हुई, बनाव-ठनाव खोई रहती है। देखना हवेली की आबरू डुबोएगी, एक दिन।”

मिलन के अंतस में दोहरा हर्ष जरूर था। मन ऊहापोह से घिरा था। ऊँच-नीच की चकल्लस तन बौराया था। लजाई चाल सहमी-सहमी थी।

उसने गैराज से गाड़ी निकाल ली। वह गाड़ी चलाती जा रही थी, मन सपने के आगोश में था। कलरव विहीन नदी के किनारे-किनारे, सूरज के तेज के साथ-साथ, जल में झिलमिल दिखती उसकी परछाई उसे सुहानी लगती है कि मेघ छा जाते हैं।

जन मन समिति का दफ्तर आ गया था। मिलन ने आज की मीटिंग स्थगित कर दी। बाबू गणेशीलाल को साथ ले लिया और गाड़ी चलाती “बनजारा टी स्टाल” पहुँच गई। उसने गाड़ी वहीं पार्क कर दी और आंकी-बाँकी वही पगडण्डी पकड़ ली, जो डेरों की ओर निकलती थी।

सुबह का टेम रहा। घुमन्तू अपने-अपने जीव-जिनावर लिए धंधा-पानी चले गये थे या फिर जाने को थे। असामाजिक तत्त्वों ने यहां दो डेरे फूंक दिये थे। मिलन और गणेशी जले पड़े उन डेरों के सामने से गुज़रे। धुएँ का कसैलापन उनकी नाक में चढ़ा। गणेशी लपकते क्रदमों आगे बढ़ गया, मिलन अफसोस करती निकली।

बहुरूपिया थानेदार का रूप धरे था। डेरे में रहते खान-पान और रोटी-लत्ता का तोड़ा भले पड़ा था, थानेदार का किरदार, उसका रौब डाटे नहीं डटता था। गबरू बहुरूपिया के गरूर का नशा असल थानेदार से कहीं डटकर था। खाकी वर्दी पर तीन-तीन स्टार लगाए, सिर पर कैप पहने, हाथ में चिकना-सा डण्डा लिए डेरे से निकल रहा था, मिलन आ गई। डेरे आते-जाते या “बनजारा टी स्टाल” पर मिलन से उसकी भेंट थी।

वह पहली दफा “बनजारा टी स्टाल” पर मिलन से मिला था। सेठ के भेस में था, उस दिन। पहचानते सिर चकरा गया था, मिलन का। उसके मातुल (मामा) कहाँ आ बैठे, यहाँ?

थानेदार! वह मिलन के सामने सीना तान कर खड़ा हो गया था। मुट्ठी भिंचे डण्डे को हवा में मारा। गुस्सा के मारे फड़कते होंठों कड़क कर बोला—“जिन हुड़दंगियों ने दो डेरे फूँके हैं, गिरफ्तार कर जेल में डाल देगा।”

थानेदार का रौब देख साड़ी का पल्लू सिर पर खींचती मिलन हल्की-सी हँसी—“थानेदार साहब, उन सब पर कार्रवाई हो चुकी है। बदमाशों को पुलिस हिरासत में ले लिया गया है। नाराज न हों, निश्चित रहें, आप।”

बहुरूपिया ने पैर धमक कर सेल्यूट किया और मिलन के चरण-कण लिए। सीधा सट्ट खड़ा हो गया और डण्डा बगल में दबाकर बोला—“वाह, बहन जी वाह। घणो मोटो काम हुयो यो तो, म्हारी आबरू रही।”

मिलन यहाँ आने का मकसद उसे बताने लगी—“भाई बहुरूपिया डेरों का सर्वे करने आए हैं, हम। अपनी समिति के माध्यम से रिपोर्ट सरकार को भेजेंगे। मेरी मंशा है, जहाँ जिसका डेरा है, वह वहीं स्थाई आवासी हो। सरकार सहानुभूतिपूर्वक गौर करे और सरकारी तौर पर पट्टे अलाट हो जाएँ। आखिर आप लोग भी तो समाज के अभिन्न अंग हैं। वक्त ने उथल फेंका बात अलग है। घुमन्तू रहेंगे, फाका बना रहेगा। कितना बड़ा त्रासद है, तन-बदन पर पहना लत्ता-कपड़ा और गोल बिस्तर ही आप लोगों की चल-अचल संपत्ति है।”

बहुरूपिया के शरीर सनाका-सा उतरा। मिलन की आँखें नम हो गईं। गणेशी देखता रहा।

बहुरूपिया ने सामने खड़ी खाट बिछा दी। दावण टूटी झंखाड़-सी यह वही खाट थी, जिस पर बैठ कर वह वार-वार नया रूप धरता है। उसने खाट थपकी और मनुहार की—“बैठो बहन जी।”

मिलन खाट पर बैठी, बहुरूपिया उसके सामने नीचे बैठ गया, उकडू। आजिज़-सा। उसके दोनों हाथ जुड़े थे। डोरोंभरी आँखें याचना टिमटिमाएँ थीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी घर का सपना संजोए चली गई। सर्वे की बात पर वह इस कदर बिसूरा मानो अन्त्योदय की पाँत का सबसे योग्य पात्र वही है।

मिलन गणेशी से मुखातिब हुई—“गणेशी जी आप डायरी में नोट करते चलें।”

“उसने बहुरूपिया से पूछा—“आपका शुभ नाम क्या है?”

उसके भीतर बिजली-सी कौंध गई। चिनगारी-सी चटकी। तन-मन खलबली मची। उसका नाम? उसके तो नाम, जात, धर्म, कर्म सब बहुरूपिया हैं। बाहर-भीतर, डेरा-डगर बहुरूपिया कहवें। वक्त के साथ रुल गये अपने नाम को उसने रौल-रौल संवारा। पूछा—“मेरो नाम बहन जी?”

“हूँ।”

“सहादीन वल्द रुकादीन उमर तीस बरस। जात मुसलमान।”

गणेशी डायरी लिए खड़ा था। बहुरूपिया उतावली में बोल गया। गणेशी याद नहीं रख पाया। फिर पूछा—“अरे भई धीरे-धीरे बताओ, लिख पाऊँ।”

“सहादीन वल्द रुकादीन उमर तीस बरस। जात मुसलमान।”

गणेशी ने लिखा और कहा—“ठीक है।”

पुलिसकर्मी जिसको एस.पी. ने यहाँ सुरक्षा की दृष्टि से भिजवाया था। वर्दी पहने, हाथ में डण्डा लिए घूमता-घामता आ गया था। रिटायरमेंट के नीड़े था। पता सरीखा उसका बदन, हवा हिले। मधुमेह का मरीज, रोज सुई लगे। दारू की लत, कोढ़ में खाज। ऊँचे धड़ पर शूतुरमुर्ग-सी लम्बी गर्दन। नाक ऊपर चढ़ी थी। आँखें भले बड़ी-बड़ी थीं, सूझती कम थीं। ढीले-ढंकल कपड़ों में वह खेत में खड़े बिजूका-सा लगता था। ना नौकरी करने का कायदा, ना रहने का शऊर। महकमा नाराज। जहाँ भर्ती हुआ, वहीं का वहीं था। काँस्टेबल।

सिपाही को आया देख बहुरूपिया झट खड़ा हो गया था। डण्डा हाथ में पकड़े था। सिपाही घबराया। विलम्ब हुआ, दरोगा साहब उससे पहले आ गए। उसने चढ़ी साँसें रोकीं। डण्डा बगल में दबा लिया और बहुरूपिया को ज़ोरदार सेल्यूट किया-“हुकुम।”

बहुरूपिया के जेह में झेंप और होंठों पर पुलक थीं, ‘थानेदार के भेस पुलिसियो गच्चो खा गयो। सलाम ठोक्यो, पैर धमक के।’

काँस्टेबल के इस मतिभ्रम पर मिलन और गणेशी के दाँत निकल पड़े थे। सिपाही को संदेह हुआ। गली-कूचे स्वांग दिखाता बहुरूपिया है स्साला, दरोगा नहीं। आत्मग्लानि हुई और गुस्सा के मारे ताव आ गया। डण्डा उठाते हड़क मारी- “स्साले बहुरूपिया पुलिस की वर्दी पहन कर पुलिस को बेवकूफ बनाता है।”

मिलन ने उससे कहा- “अरे-अरे यह क्या करते हो, तुम? रुको।”

बहुरूपिया न कतई डरा, न तनिक घबराया। अपने अंदाज बाअदब सेल्यूट किया- “जी हकम।”

जलती आग पर पानी डालने पर वह बुझ जाती है और राख भरा गीला धुआँ उठता है। सिपाही ने क्रोध बुझी गंधाती साँस मारी।

काँस्टेबल ने मिलन से कहा-“मेम, एस.पी. साहिबा ने यहाँ भिजवाया है, मुझे। हुक्म फरमाएँ।” सिर से पैर तक की उसकी थकान चेहरे पर उड़ती हवाइयों के रूप में मौजूद थी।

मिलन ने उसे हिदायत-सी दी-“आप तो बस इतना-सा सहयोग करें। हमारे साथ रहें।

“जी।”

वे आगे बढ़े। अगला डेरा रोशनी का था।

रोशनी मैली-कुचैली ऊँची-सी घाघरी, झिनी-सी कुरती पहने थैगलियाँ लगी लूगड़ी सिर पर डाटे नंगे पैरों खड़ी थी, डेरे के बाहर। मंगती हो। तेईस की उसकी काया की मादकता को घर का अभाव और पति की उपेक्षा खा गये। पति की बेवफाई के कारण दिन-रात आँसू बहते। ना विधवा। ना सधवा। मरद दूसरी से था और महीने में एकाध बार डेरे आता। औरत जात जल्दी सीझती है। वह उसे बहलाता-फुसलाता और उसकी कमाई मार ले जाता। बेचारी खिलौने वाले के वहाँ खिलौने बनाकर अपना पेट भरती। खिलौने वाले विधुर कुचबंदे ने कई बार सैन की, ‘उसके रह जा। दोनों कमा-खा मौज कराँगा।’ वह अपने सत रही। नाड़ हिला दी, साफ।

वह अभी-अभी खिलौने बनाकर लौटी थी। हाथ मिट्टी सने थे। उसके सांवले चेहरे पर कई जगह मिट्टी के टप्पे थे। खिलौने बनाते, लूगड़ी संगवाते अँगुलियाँ छू गईं। माटी की सरद-गरम, न केवल उसके पैरों में ही, हाथों में भी बिवाइयाँ फटी थीं।

सिपाही समेत चार जनों को सुबह-सुबह डेरे आया देख, उसका कालजा जगह छोड़ने लगा था। हाथ जुड़ गये। घबराहट थामती बोली- “पिधरो। निमसकार। राम-राम।”

“नमस्कार। तुम्हारा नाम क्या है?” मिलन ने उससे पूछा।

“रोसनी। रोसनी बाई।”

“पति का नाम ?”

बहुरूपिया ने उसकी ओर एकटक देखा।

वह शर्म खा गई। खुद में लुकी। बहुरूपिया की ओर निगाह भरी—“बता दे ना, खड़ो-खड़ो दीदा काढ़ा।”

बहुरूपिया ने उसकी ओर हास से नेत्र टिमकाए और गणेशी की ओर देखते हुए बोला—“माँडो, बोलाराम, बाप हमीराराम, जात कुचबंदा, उमर पचीस।”

उसने गणेशी की ओर सवालिया निगाह देखा और क्षुब्ध साँस मारी—“पर बाबूजी, वो तो घणो बदमाश है। घणा-घणा दिनां में एकाध दिन इके पास आवै। पिसा की खातर मूज-सी ऐसी कूटे। बिचारी डांगर की नाई ढा-ढा रोवै।”

रोशनी की वेदना पलकों रिस आई। आँखें निकालकर बोली—“दारीका चुप रह तू। मेरो मरद। मैं जाणूं, वो जाणै। दाल-भात में मूसलचंद तू कौण।” और उसने पति की बदचलनी के आँसू अपनी लूगड़ी के पल्लू में ले लिए थे।

मिलन भाँप गई थी, ‘खुदा ना खास्ता उसका मिशन सफल रहा, वह हरामी मरद पट्टा बेच खाएगा और यह फिर बेवारसी रह जाएगी।’ वह गणेशी से बोली—“इसी का नाम लिख दो। रोशनी वाइफ ऑफ बोलाराम। एज ट्वेंटी थ्री। कास्ट कुचबंद।”

वे सब आगे बढ़ गये थे। रोशनी खड़ी-खड़ी उनकी ओर देखती रही, ‘के काम आया, नाम, उमर, जात मांडी?’

अगला डेरा सूना पड़ा था। थान सरीखा। रहवासी मदारी का रीछ कई दिनों से बीमार था। डेरे में बस दो ही प्राणी थे। विधुर मदारी और रास बंधा बेबस रीछ। वह आज रीछ को लेकर धंधा-पानी निकला था।

बहुरूपिया ने सूने डेरे के तहमद लटके गेट की ओर निगाह मारते गणेशी की ओर देखा—“माँडो। मैं

मंडवाऊँ। सीकाराम बाप दरियाराम उमर, सितालीस, जात मदारी।” उसने मिलन को बताया—“इसकी घरवाली सरग सिंधार गई। एक छोरी है। बियाह, थाह दी। दूसरी जगहां रहवै।”

उसने सामने की ओर अँगुली का इशारा करते हुए कहा—“सामना वालो डेरो उकां ही छोटा भाई को है। घरवाली ने रस्सी से इसो मारा करतो नील उपड़ जाती बेचारी के। मरी ने करी। दूसरा के जा बैठी। टाबर-टीकर भी ना हुआ।” वह लापरवाह हँसी हँसा—“आधो-अधूरो रह गयो स्सालो। रानो हो रह्यो है। छलिया, छिनाला के पाछे हांडे।”

मिलन ने गणेशी से कहा—“रहने दो। मत लिखो। ऐसे आदमी का क्या, जिसका पत्नी और चरित्र से वास्ता नहीं रहा।”

अगला डेरा भी मदारी का था। बहुरूपिया की उससे ‘कट’ थी। उसने आँखें चढ़ाई। नाक पर खोर की। सुड़सुड़ाया। क्रदम आगे बढ़ता कहने लगा—“आओ।”

डेरा छोड़ कर निकलते बहुरूपिया को काँस्टेबल ने हड़क दी—“अरे बहुरूपिया टापरी छूट गई एक। रुक।”

बहुरूपिया ने ऐसा बुरा-सा मुँह बनाया मानो उसी का कुछ जाता हो। मरे-मरे मन गणेशी की ओर देखा—“समोतर वल्द दामोदर। जात मदारी। उमर अठारा-उन्नीस। उका भालू ने कीड़ी (जहरीला साँप) काट गयो। अब मरद-बीर दोनों मजूरी करन सहर जावै। रात पड्या आवै।”

सुकरादास नांदिया को लेकर निकला ही था, चौक से। छोटे क्रद की उसकी पत्नी जिसका नाम छुटकी था, उसके पीछे-पीछे चली। नांदिया पूँछ हिलाता। सिर डुलाता। घण्टी की टन-टन-टन उठाता चला। छुटकी के हाथ में साँटी थी। सुकरादास के कंधे से झोली लटकी थी। उसके लम्बे कुरते की चार जेबें थीं।

बहुरूपिया ने उसे टोका-“अरे सुकरादास रुकना तो, काम है एक।”

सुकरादास और छुटकी दोनों ने नांदिया को एक साथ पुचकार दी। तीनों ठिठक कर खड़े हो गए, वहीं।

गणेशी ने उसकी ओर मुँह किया-“आपका नाम क्या है?”

नांदिया पशु जरूर था। कर्म-जोग उसमें सयानापन आ गया था। मुँह उठाकर सिर हिला-हिला कर घण्टी बजा दी थी। कहता हो -“नांदिया।”

“काम बताओ ?” सुकरादास ने गणेशी की ओर जिज्ञासावश देखा।

बहुरूपिया खुशी के मारे उतावला था। मिलन या गणेशी बताते वह बीच में ही बोल पड़ा- “बहन जी, सरवो करन आई है, सहर से। जी जगहाँ जीको डेरो पड़्यो है ना, उको पट्टो डेरावाला के नाम हो जावै। सिर पे पक्की छाया बण जावै। बिना कण दियो, मण मिलेगो हमने।”

“वाह! हमने पहली बार सुनी, हाँडता-फिरता गुजर करता को भी ठोर-ठिकानो हुवै।” वह आसमान की ओर थोड़ा हुचका। सिर का पगगड़ उठा लिया और खुजलाता कहने लगा-“मेरो नाम सुकरादास है। बाप का नाम रामदास है। जात नंदी। उमर तिरपन साल है। हाँ, म्हारा नंदी को भी धियान दियो।” छुटकी ने ऊपर की ओर हाथ जोड़े-“वो सबकी भली करेगो।” उसके दोनों हाथ जुड़े और नेत्र देर तक मिंचे रहे।

गणेशी ने लिखा।

उसने चढ़ते सूरज की ओर देखा और नांदिया को टटकार मार दी-“चल।”

नांदिया ने सिर हिलाया और मंथर-मंथर आगे बढ़ता गया। उसकी गर्दन से बँधी घंटी चलते वक्त पाँचवें पैर पर बार-बार लगती थी। घण्टी की टन-टन-टन की आवाज़ उठती गई।

अगले दो डेरे घीघाराम और मीघाराम दो भाइयों के थे। वे डेरे दोनों एक-दूसरे से ऐसे सटे थे, सहोदर हो। घीघाराम की चल सम्पत्ति बंदर था। मीघाराम की बंदरिया। बंदर-बंदरिया का जोड़ा बनाकर महीने में पन्द्रह दिन घीघा खेल तमाशा दिखाने के लिए निकलता। पन्द्रह दिन मीघा। जैसे दो किसान अड़ा-सड़ा<sup>1</sup> अपने खेत जोता करते।

आज मीघा की बारी थी। वह चौखाना की लुंगी और लम्बी जेब का नीचा-सा कुरता पहने था। फेंटा बंधे सिर के बाल कँधे झूलते। पैरों में हवाई चप्पलें पहने था। कँधे से झोली लटकाए था। बाएँ हाथ से बंदर-बंदरिया की रासें पकड़े था। दाएँ हाथ में थमी लाठी कँधे पर धरी थी। वह डेरे से दो क्रम आगे बढ़ा, बहुरूपिया के साथ तीन जने उसके सामने थे।

शहर से आई मेम साहब, सिपाही और मुनीम से दिखते आदमी को देखकर वह चौंका। डर-सा लगा। लाठी बगल से सटाकर खड़ी कर ली। रास पकड़े हाथ जोड़ कर राम-राम की। फिर हाथ कलेजे पर रख लिए। धुक-धुक डाटे हों।

गणेशी ने उससे पूछा- “आपका नाम?”

“घीघियो।”

“बाप का नाम ?”

“पीछियो।”

“जाति ?”

“कलंदर।”

“उम्र ?”

“ठेठ ना कह सकूँ। चालीस के नीड़े-गोड़े हूँ।”

जैसा घीघा वैसा मीघा। एक आवां के दो बासन सरीखे। दरिद्रता की जुड़वई।

मीघा, घीघा से सटा खड़ा था। घीघा ने उसके कंधे पर हाथ धरा- “यो मेरो छोटो भाई है। एक कोख जायो। पर बाप अलग-अलग है, म्हारा। इको नाम घीघीयो, बाप को नाम सीपीयो है। उमर में दो साल छोटो है, मेरा से।”

गणेशी ने डायरी में माँड दिया और बहुरूपिया की ओर आँखें चलाकर कहा- “आगे चलें।”

मीघा थोड़ा तेज-तरार था। हवा खाया था। वक्रत समाया था। उसने बहुरूपिया का कंधा पकड़ कर वहीं रोक लिया और बूझती निगाह उसकी ओर देखा। वह उसका मन ताड़ गया था। बताने लगा-“बहन जी सहर से आई है। म्हारा इन सब डेरों को सरवो करेगी। रपट सिरकार तक भिजावेगी। जमीन को पट्टो मिल जावै अर पक्को ठीयो हो जावै, अपणो, सबको।”

इतना कह वह अगले डेरे की ओर बढ़ गया था। मीघा की घरवाली ने पति के कंधे पर ठोला देकर तंज किया-“अँधा की गली में काँच (आईना) बेचण जिसी निरी बात करे।”

“बावरी, बड़ा आदमी अच्छो बुरो जो करे, अच्छो ही करे। बड़ा को मिखोल ना उड़ाया करे। पड़ी रह।”

जिस डेरे के आगे वे चारों खड़े हुए थे, वह गुलाबी का था। उसके आदमी के हाथ-पैर से पौन (लकुवा) निकली थी। इतनी-सी आसंग (क्षमता) रही, उठता-बैठता जंगल हो आता। पत्नी की मदद नहा-धो कपड़े बदल लेता।

गुलाबी पगडण्डी को पीठ दिए घाघरी जाँघों चढ़ाए उघाड़े मगर चिकनी मिट्टी मले नहाने बैठी थी। साबुन, शैम्पू दूर मुलतानी मिट्टी तक नहीं थी। माटी का रूवा-सा एक बासन उसके पास धरा था। वह मटके के टुकड़े से खोर-खोर, खुरच-खुरच, मसल-मसल मैल उतारे जाती, गिलास भर-भर ऊपर पानी दूलती। देह का फूला मैल बह-बह नीचे गिरता।

महिला को चौड़े में इस तरह नहाते देख मिलन को तरस आया और रोश हुआ। नेत्र वक्र हुए, ‘हम शहरी महिलाएँ बाथरूम की सिटकनी चढ़ा कर इस सजगता से कपड़े उतारती हैं, स्नान करते अँगुली नहीं देख पाए। यहाँ खुले आँगन उघाड़े बदन महिलाएँ नहाती हैं। सरकार है कि वह महिलाओं की निजता की सुरक्षा की डींगें हाँकती नहीं थकती।’

मिलन, बहुरूपिया, गणेशी और सिपाही के पैर वहीं ठिठक गए। बहुरूपिया ने खाँस की।

गुलाबी को मालूम था, मरद-खाँस है। अनसुनी कर दी। जब से उसके आदमी को पौन निकली है, मरद उसके डेरे के सामने से खाँस-खरखर कर निकलते हैं।

जहाँ चटनी-रोटी तक तोड़ा हो, तौलिया ताड़-पत्ता। गुलाबी ने गीले बदन कपड़े पहन लिए। घाघरी, कुरती, लूगड़ी। गीला कपड़ों पर उतर आया था। वे चारों के चारों उसके सामने जा खड़े हुए थे।

चौबीस बरस की गुलाबी श्यामल देह भले थी। मृग जैसे लुभावने नयन थे उसके। पतला चौका (चेहरा) था। ठोड़ी उठी थी। कंधे खड़े थे। गर्दन ऊँची थी और ललाट थोड़ा उभरा था। उसके रूप आँखें खिंचती

थी। मरद की कमतरी उसकी गोद (कोख) सूनी थी।  
ममता की लौं चेहरे पर हताशा की झाँई थी।

बहुरूपिया ने उससे पूछा-“भाभी डेरो अपने नाम करवागी या भाई खगरा के नाम?”

“मैं समझी ना।” पानी टपकता मुँह और आँखें लूगड़ी से पोंछ लिए थे, उसने।

“बहन जी आई है सहर से। म्हारै डेरां को सरवो करे। डेरा की जगहाँ उसकी हो जावै, आज के दिन जो रहवै।”

“हाँ बहन।” मिलन गुलाबी की ओर देखती रही।

“बता नाम मंडवाऊँ।” सहादीन बहुरूपिया ने फिर कहा।

कृ षण-कृ षक।य खगराराम डेरे के कोने में गूदड़ी बिछाए कच्छा पहने एक करवट लेटा था। पराई आवाजें सुनकर वह उसी हाल बाहर निकल आया। लाठी टेकता, हिलता, खुद को गिरने-पड़ने से रोकता-थामता। सताईस की वय चालीस का दिखता। उसके समूचे बदन पर मैल-रेत जमी थी।

उसका न केवल एक हाथ और एक पैर पोलियो ग्रस्त थे, आधा ओठ और एक आँख बेडोल हो गये थे।

वह पत्नी गुलाबी का कँधा पकड़ कर खड़ा हो गया था। दुनिया के इस दीन पर मिलन की आँखें ज्यादा टिकी नहीं रह सकीं। करुणाभरी आँखें झपकाईं। दयाभाव उससे पूछा-“भैया नाम क्या है, आपका?”

उसके टेढ़े होंठ बोलते थर-थर करते रहे। बताया-“ख-ग-रा-राम।”

गणेशी ने पूछा-“बाप का नाम?”

“चम-ना।”

बहुरूपिया ने पूरा किया-“चमनाराम।”

“उम्र?”

“सिताइस।” गुलाबी बोल पड़ी।

बहुरूपिया ने बताया-“जात करनट है।”

गणेशी ने डायरी में लिखा और मिलन की ओर विनम्र नज़रों देखा-“आगे बढ़ते हैं?”

अगला डेरा।

आठेक साल की एक लड़की डेरे के बाहर आधे कपड़ों में बैठी थी। मोटे डबोट बंधी आधी घाघरी। ऊपर फटी-सी बनियान। झुतरैले बालों में लीकें-जूएँ

थीं। उसकी मुट्टी में दो-तीन दिन का चूजा था। रात चूजे की माँ को घर का फाका खा गया। चूजा चीं-चीं-चीं किए जाता था, ‘भूखो हूँ, मैं। माँ कहाँ गई मेरी? चुगो लाती।’

लड़की उसकी चोंच अपनी जीभ पर रख कर खा-खा-खा करती कहती-“ना घर में रोटी का एक टुकड़ा है, ना नाज का एक दाना है। यो जीभ तेरी महतारी ने खा गई। तू जीभ खा।”

चार जनों को डेरे के सामने आया देख लड़की ने चूजे को अपनी छाती से चिपका लिया और डर कर खड़ी हो गई थी।

बहुरूपिया ने बताया-“यो संतूराम रेबारी को डेरो है। मरद-बीर दोनों मजूरी निकल गया।”

“उसके बाप का नाम क्या है?” गणेशी ने पूछा।



बहुरूपिया ने लड़की की ओर मुँह किया-  
“गुड्डो, तेरा दादा को नाम बता, के है?”

“पिरभाती लाल रेबारी।”

“उम्र?”

“बतीस बरस।”

जहाँ वे अब खड़े हुए थे, वह एक बुझकड़ का डेरा था। बुझकड़ डेरे से निकला हुआ था। वह डेरों के बीच बसर करता, पंडित हुआ था। जन्म-मरण, शादी-ब्याह की रस्में पूरी कराता। मंत्र-मौली, पूजा-पाठ करता। पंडिताई करता, सो थोड़ा ऊँचा रहता था।

गेट पर लटका तहमद हवा के झोंके से एक ओर सरक गया था। डेरे का भीतर प्रकट था। मिट्टी-गोबर लिपी-पुती दीवार के साथ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ खड़ी थीं। तेल-सिंदूर लिथड़ी मूर्तियों पर चढ़ाई मालाएँ सूखी पड़ी थी। रेत की ढूह में खोंसी अगरबत्ती शनैः शनैः सुलग रही थी। आठ फीट वर्गाकार डेरे के आमने-सामने की दो लकड़ियों पर रीढ़ से टिके बाँस पर खप्पचियों और पन्नियों की पूर थी। बाँस से एक पिंजरा लटका था, पिंजरे में तोता था। दो कटोरियाँ रखी थीं। एक में घुघरी का चुग्गा, दूसरी में पानी था। यहाँ न कोई बिल्ली रखवाली थी, न कुत्ता पहरेदार था। पिंजरा ही उसका रक्षक और सुरक्षा कवच था।

घने-गहरे हरे रंग का वह सुवा पिंजरे की फड़ पर चोंच मारे जाता था। ठक-ठक-ठक। कष्ट होता पंजे पर रगड़ कर दम भरता। वह जानता था। पिंजरा कच्चा आम नहीं है, नोच-कुतर देगा। लेकिन चोंच मारने की अपनी आदत भूलना नहीं चाहता था।

बाहर खड़े लोगों को देखकर उसने गर्दन मारी और मुँह खोलकर टें-टें-टें की, फिर टाँय-टाँय करने लगा। ‘टें-टें-टें’ का आशय था, ‘मैं डरा हूँ।’ ‘टाँय-टाँय-टाँय’ का मतलब रहा, ‘घर पर कोई नहीं है, मेरे सिवाय।’

तोता आय का जरीया रहा। बुझकड़ तोते के पंजे से बंधी डोर को अपनी कमीज के काज से बाँध उसे अपने कंधे या हाथ पर बैठाये बूझा काढ़ने निकलता। जेब में ताश के पत्ते रखता। ढेरी बिछा कर तोते की चोंच से एक पत्ता निकलवाकर ग्राहक को शुभ-अशुभ दर्शाता। रंगदास नाम का वह बुझकड़ अगले की भावना भुनाने की रग और अंधविश्वास के बौपार से पैसा कमाने का गुर बखूबी जानता था। दारू पीते नहीं मानता था।

बहुरूपिया ने डेरे की ओर अँगुली का इशारा किया और मिलन की ओर देखा-“बहन जी यो रंगदास को डेरो है। बूझागर है बड़ो। तोता से बूझा काढ़े। तीन महीना पहलां उकी घरवाली सरग सिधार गई। टाबर-टीकर हुया ना, अकेलो रह गयो। रंडक-भंडक। काल चालतो-चालतो खुद गढ़ा में गिर पड्यो। हाथ-पैर में घणी लागी। सकारे-सकारे डाकदर के जातो बता रह्यो, ‘दर्द से सारी रात कुन्हायो।’

गणेशी ने उससे पूछा-“रंगदास के बाप का नाम याद है, आपको?”

“बस अभी मर्यो छह मीना पहल्यां। नेवलो कह था, उने। आप तो नेवलदास माँड लो जी।”

“रंगदास की उम्र?”

“जियादा ना बस पचीसेक है।”

“जात?”

‘बूझा काढ़े, बूझागर हुयो।’

अगला डेरा। बाहर-भीतर चौपट। गेट पर परदा तक नहीं। गूदड़-गाबा, बरतन-भाण्डा एक कोने में पड़े थे। डेरे के भीतर सफेद रंग के कबूतर-कबूतरी गुटर-गू, गुटर-गू, गुटर-गू करते पर फड़फड़ा-फड़फड़ा किलौल रहे थे। एक-दूसरे को चोंच मार-मार, पियार-परीत इतने डूबे थे, मालूम नहीं आहट हुई।

गेट के बीचों-बीच काले भूरे रंग की बिल्ली बैठी थी। कबूतर बिल्ली की दाढ़ लगा पक्षी है। पालतू

थी। जातीय फितरत नदारद थी, उसकी। असल खतरा मादा बाज्र का था, जो दरख्त पर बैठी आँख इधर लगाए थी। कबूतर-कबूतरी गुटर-गू- गुटर-गू- गुटर-गू करते, वह चोंच बढ़ाकर पंजे नापती। वह कुत्ते से नहीं बिल्ली से भय खाती थी। अगर, उसने कबूतरों पर झपट्टा मारा, बिल्ली पेड़ पर चढ़कर उसका घोंसला उटकेर देगी।

बिल्ली ने पंजा हिला कर म्याऊँ-म्याऊँ की-  
“डेरे पर कोई नहीं है दो कबूतरों और मेरे सिवाय।  
आयें, आना।”

बहुरूपिया ने बताया- “बहन जी, यो धर्मदीन करनट को डेरो है। उकी छोरी थाली में बैठ के रस्सी पे सरकती-सरकती खेल-तमाशो दिखावे थी। भभूल्यो आ गयो। झोल खा, गिर पड़ी। पैर ना टूट्यो। चोट आई घणी। सोजन है। मरद-बीर तड़के उठके पहलवान के ले गया, उने। बाप पद्दी (पीठ) बैठाये था। दूसरा गाम ले जावेगो, तीन कोस।”

“अरे-अरे।”

मिलन ने सहानुभूति प्रकट की- “कंगाली में आटा गीला वाली कहावत हुई, यह तो ?”

“हाँ बहन जी।”

गणेशी ने उससे पूछा-“धर्मदीन के पिता का नाम क्या है, बहुरूपिया ?”

“अजबदीन। उमर अड़तालीस बरस मांडो।  
कौम मुसलमान लिखो।”

डेरे के भीतर से फिर गुटर-गू-गुटर-गू-गुटर-गू करने और पंख फड़फड़ती आवाजें आईं। मिलन की नज़रें टिकी रहीं। कबूतर गर्दन फुलाए गुटर-गू- गुटर-गू करता कबूतरी को चोंच मार देता था। वह उर्वरा (धरती) की ओर गर्दन नवाए थी। नर-मादा। अपनी-

अपनी नियति।

संतति सुख के लिए कपोत जोड़े की केलिक्रीड़ा निस्संतान मिलन की हृदय-कलिका से होती उसकी कोख में जा समाई थी। बिना आँखें मीचे उनकी ओर देखती रही। देखती रही, एकटक। बादल सरसा।

ऊपर चढ़ आया सूरज डेरों की फूस-पत्री दीन-सा लग रहा था। खेतों पर फैली रेत पर वह सुनहरा-सा दिखता था। हरे-भरे खेतों पर हरा लग रहा था। डेरे के बाहर सिर उधाड़े बैठी बुढ़िया के सफेद बालों पर चाँदी-सा चिलक रहा था, वह।

बहुरूपिया ने बताया-“ऊपर तले ब्याह-शादी है, इन दिनों। मंडलियाँ साही पर गईं। डेरा सूना है, डोकरी अर टाबरां के सिवा।” उसने एक साथ पांच-छह डेरों की ओर हाथ किया- “बहनजी ये सब सपेरा का डेरा है।”

दुकान की

खुदती नींव में नाग निकल आया था, तो सेठ मुकुंददास सपेरे की तलाश में यहाँ आये थे। उनके कुछ दिन बाद मिलनदेवी भी यहाँ आई थीं। दोनों ने पायलों और घुंघरुओं की एकरस झंकार सुनी थी।

दोनों की एक ही मंशा थी, अगर उनके घर-आंगन खुशी आई तो इसी कालबेलिया पार्टी को जलवे पर बुलायेंगे। आज न झंकार थी, न खंजरी की ढपढपाढप-ढपढपाढप-ढपढपाढप थीं, न बीन का लहरा उठा था, न कोकिला कंठ थे, न पायलों की झंकार के साथ नृत्य की मोहकता थी। मैले कुचैले, नंग-धड़ंग बच्चे नाक सुड़सुड़ते-सुड़सुड़ते रेत-रेत खेल रहे थे। गरीबी की पौध से ये बच्चे समय के साथ पेड़ बनते अपने बाप-दादाओं से मिली विरासत संजोयेंगे।

मिलन ने विचार किया, 'लखीनाथ सपेरा इन डेरा की दाई-माई है। बहुरूपिया अब बेवजह साथ है। अपने काम-धँधे जाए। उसने पर्स से एक रुपया निकाला और उसकी ओर बढ़ती बोली- "लो सहादीन जी, आपका मेहनताना। खोटी हुई है, आपकी।"

बहुरूपिया विभोर हुआ, आँखें गीली हो आईं। हाथ जोड़ दिए- "बहन जी, आप म्हारो इतनो बड़ो काम कर रही हो, इका पीसा लूँ, कीड़ा की कुण्ड पड्यो सडूँ।"

उसमें फिर किरदार लौट आया था। मूँछें सूती। गरूर से खखरा और गाँवों की ओर जाने वाली पगडण्डी पकड़ ली थी।

मिलनदेवी, सिपाही और गणेशी तीनों लखीनाथ के डेरे आ गए थे। न बकरी मिमियाई, न कुत्ते ने कान खड़े किये, न नेवला दोनों पैरों पर उठकर चौकत्रा हुआ।

लखीनाथ बनियान पहने डेरे के बाहर बैठा तावड़ा सेंक रहा था। लूंगी घुटनों चढ़ाए पट्टी बंधा पैर फैलाए पूंगी (बीन) बजा रहा था।

*कोड मीठी बोली रा*

*डाकरियै नैणा री लागै अवलूंडी<sup>2</sup>।*

*हाँ जी जोड़ी रा आंगणियै खुदावां कुवां बावड़ी।*

उसने गले में पतली-सी सटक डाल रखी थी, सूत की माला हो। सामने टोकरी खुली रखी थी। उसमें नाग था। भारी-भरकम। एकदम डरावना। वह मधुमक्खी के छत्ते-जैसा फन काढ़े था। लखीनाथ उसके सामने बीन हिलाता। नाग का फन बीन के बिम्ब डोलता।

तीनों के तीनों थोड़ा दूर खड़े रह गये। गणेशी और सिपाही डर गये। मिलन सहज थी। लखीनाथ के गले में पड़ी सटक देखकर मिलन को वह घटना स्मरण हो आयी। वह सिर में सांप घुसने का बहाना लिये थी। लखीनाथ को बुलाया गया। इसी शातिर लखीनाथ ने अपनी टोकरी से सटक निकाल कर उसकी गर्दन में

डाल दी थी। यह सटक वही तो नहीं है ?

तीन जनों को आया देख लखीनाथ ने बीन बंद कर नीचे रख दी। नाग टोकरी में बन्द कर दिया। सटक दूसरी टोकरी में बंद कर दी और दोनों टोकरियाँ दूर सरका दीं।

बकरी का बच्चा छलांगता-छलांगता तीनों के बीच आ खड़ा हुआ। मिलन ने उसे गोदी में उठा लिया। सिर पर हाथ फेर कर पुचकार दी और नीचे छोड़ दिया था। बच्चे ने कुलांच भरी और लखीनाथ के पास पहुँच गया। लखीनाथ ने उसे गोदी में उठाया, उसके मुँह से अपना मुँह भिड़ाया, दुलारा और छोड़ दिया।

आदमी पद, पैसा, जात, बिरादरी से चाहे बड़ा हो या छोटा। मोहब्बत दोनों दिल एकसार धड़कती है। मिलन का लखीनाथ की हथेली पर लिखा 'वादा' और लखीनाथ की मूँछ का वह बाल। न लखीनाथ सपेरा, न मिलन सेठानी। उनकी आँखें मिलीं कि साँसें चढ़ने-उतरने लगीं।

मिलन एक अजीब उलझन में थी। वह उलझन उसने लालसावश खुद पैदा की थी। मकड़ी अपनी लार से जाला पूरते-पूरते खुद उलझ जाती है

"कैसे हो, लखीनाथ?" मिलन ने लजाई-सी आवाज़ में पूछा।

"ठीक हूँ।" लखीनाथ के कंठ लरज थी।

मिलन ने झेंपते-झेंपते उसे बताया- "लखीनाथ मैंने डेरों का सर्वे शुरू कर दिया है। हमने सहादीन बहुरूपिया के सहयोग से दूसरे डेरों की सूची तैयार कर ली है। सपेरों के डेरे बाकी हैं। कितने हैं?"

"आठ।" लखीनाथ ने बताया।

गणेशी ने लखीनाथ से कहा- "आप एक-एक डेरे के वाशिंदे का नाम, पिता का नाम, आयु और जाति लिखवाते जाएँ।"

मिलन बोली- “लखीनाथ पहले खुद से शुरुआत करो। तुम्हारा नाम तो लखीनाथ है ही। पिता का नाम बताएँ?”

“देवानाथ जाति सपेरा-कालबेलिया।” उसने तपाक से बताया।

“उम्र?” डायरी में लिखते जा रहे गणेशी ने पूछा।

“तेबीस बरस।”

मिलन ने अपनी जिज्ञासा का शमन करना चाहा- “यह सपेरा-कालबेलिया एक ही हैं या दो भिन्न जातियाँ हैं?”

वह बोला- “एक बेल का दो तूमड़ा जैसी बात है, बस। और कुछ भेद फरक ना है।” उसकी नज़रें मिलन के स्निग्ध रूप लावण्य पर टिकी नहीं रह सकी, जैसे काँच से बूँद फिसलती है।

“तुम एक-एक कर धीरे-धीरे बताते जाना, मैं लिखता जाऊंगा।” गणेशी ने कहा।

“मांडो।” उसने गणेशी की ओर देखा।

“उपरानाथ बाप रामनाथ उमर बियालीस बरस। वेदानाथ बाप नीरजानाथ उमर पिचपन बरस। बलवीरी देवी विधवा रामनाथ उमर चौंतीस साल। महावीरानाथ पिता सोजीनाथ उमर तीस बरस। रमियानाथ पिता सुमरानाथ उमर बावन साल। समरानाथ बाप को नाम पिरभाती नाथ उमर सितावन बरस।”

गणेशी ने गिन कर बताया-“आप समेत सात हुए। आठवाँ छूटा, किसका है वह?”

लखीनाथ क्रोध और कुण्ठा के मारे साँप की तरह मुरेड़ी मार गया था। सबसे बड़ा बैर जोरू से जुड़ा होता है। ‘म्हारी बीरबानी की इज्जत पे हाथ डाले इसा

कलमुँहा मानस को भलो करां।’ लखीनाथ के दाँत किटकिटा उठे थे।

“लिखाओ न लखीनाथ, आठवाँ डेरा किसका है?” मिलन ने बल देते हुए पूछा।

गुमदाया लखीनाथ इधर-उधर नज़र घुमाता रहा। रमतीबाई भीतर थी। वह डेरे का फर्श लीप रही थी। एक कोना बाकी रहा था। उसके कानों में बात पड़ी। बात बेरीत लगी उसे। माथे पर ज़ोर दिया, ‘नाथ खुणस खायो है। यो मर्यो ना लिखवावेगो सपरानाथ को डेरो।”

वह गोबर-मिट्टी भरे हाथ लिए बाहर निकली, झट। सिर का दुपट्टा गोबर माटी सनी चिकोटी से पकड़कर माथे तक सरकाया। मिची-मिची आँखों लखीनाथ से बोली- “वो रह गयो ना, सपरानाथ। नाम मंडवाओ उको!”

लखीनाथ को पतंगी-सी लगी। मरोड़ का गोला-सा उठा। बरौनियाँ बल खा गईं। उसने रमती की ओर खा जाने वाली नज़रों देखा- “आबरू को घाव इतनी जलदी भूल गई तू?”

“हुई सो थूक। उकी करनी उके साथ। म्हारी करनी म्हारे साथ। दूसरां को बुरो चेतां, अपनो बुरो हुवै।”

लखीनाथ के भीतर बिजली-सी कौंध गई। क्रोध की लपटें उठीं। होंठ से होंठ काटे, सोचा, ‘पहल्या दोनवां की सगाई हुई थी। सगाई टूट गई पर दिल की डोर बंधी की बँधी है। हया उतर गई। वो स्सालो सपरो दारू पी के नहाती नीड़े आ गयो। खूब पिटवायो। फिर उनै ही चाहवै। वाह रे तिरिया चरीत।”

मिलन ने लखीनाथ की ओर दबाव बनाती आँखों देखा- “जब डेरा है तो उसका नाम लिखवाने में

गुरेज क्या है ?”

वह शर्म खा गया। सिकुड़ी आँखों सिपाही की ओर टका- “होलदार जी, म्हारो छोरो सकूल गयो। मेरा पैर में अपरेसन हुयो। म्हारी बीरबानी घूँघट बनावै।”

“तो ?” सिपाही ने उससे पूछा।

लखीनाथ ने इशारा करते हुए बताया- “वो-वो पचासेक क्रदम आगे एकलो सो डेरो पड्यो है। उके माय या फेर सामे, सपरो पड्यो मिलेगो, दारू पीयोड़ो। बुला लाओ उने। यूँ मत कहियो मैंने हेल्यो। बता दियो, सहर से मेम आई है, वो बुलावै।”

सिपाही डण्डा घुमाता गया और सपरानाथ को बुला कर डण्डा घुमाता लौट पड़ा था।

बीन का लहरा उठता आया।

अठैरी<sup>4</sup> उडियोड़ी रेखा म्हारी कठै धाड़ै<sup>5</sup> दीयो...

थनै मारवां ने आवै म्हारी रेखा परी उडै नीं अे।

थारै रे कारणियै रेखा,

म्हारी भगवा वसतर लीन्हा अे....

थनै मारवा ने आवै म्हारी रेखा परी उडै नीं अे..

हां जी ओ ढोला अवलूंडी आई ओ थारै देस में धिया बाई ने रमवा<sup>6</sup> रो कोड जिलती<sup>7</sup> जोड़ी रा..

क्रोधभरे नाग में विष बढ़ता है और फन उठाकर भयानक फुकारता है। सपरानाथ पूंगी की आवाज सुनकर लखीनाथ का गुस्सा बेकाबू हुआ। नथूने फड़कने लगे, बेतहाशा।

सपरानाथ एकलौंगी धोती घेर कर बाँधे, गेरुवा रंग का नीचा-सा कुरता पहने था। एक पैर उभाना (नंगा) था। दूसरे में चप्पल थी। फेंटा बँधे सिर लम्बे-लम्बे गरदभरे बाल कंधों गिरते थे। गले में पहनी काँच और रुद्राक्ष की मालाएँ मैल चढ़ी थीं। वह आड़े-तिरछे पाँव धरता, घूमता, झूमता बीन बजाता आ गया था। गले में काला नाग पड़ा था।

रंध्र बीन का सुर साधते हैं। दारू में धुत्त सपरा की अँगुलियों से छिद्र ठीक से दबते-उठते नहीं थे। धुन बेसुरी थी। एकदम कर्कश। कर्णकटु।

लखीनाथ का सपेरा जाग गया था। उसने नीचे रखी बीन उठा ली। वही धुन पकड़ी जिसे सपरा बजाये था। सधती अँगुलियाँ बीन बजने लगी। धुन रमी।

थमै मारवां ने आवै म्हारी रेखा परी उडै नीं अे..

जोगीड़ा ले जावै म्हारी रेखा परी उडै नीं अे.....

अठैरी उडियोड़ी म्हारी रेखा

कठै न धाड़ै करियो अे.....

लखीनाथ की बीन की सधी-पगी धुन सपरा के लिए नसीहत थी, ‘वेवकूफ सपेरा है तू, धुन बिगाड़ मत। यूँ बजा बीन।’

लखीनाथ की होड़ सपरा की बीन का लहरा और ऊँचा उठता गया। मिलन, गणेशी और सिपाही का रौआं-रौआं काँप उठा।

सपरा लखीनाथ के पास खड़ा हो गया। लखीनाथ की ओर बीन घुमाता जोर-जोर से बजाने लगा। लखीनाथ ने दम भरा और कण्ठ उठाया। उसकी बीन कहीं तेज और सुरिली बजने लगी थी। दोनों के गाल फूले थे। दोनों के बीच होड़म-होड़ बीन युद्ध चलता रहा। सपरानाथ के गले में पड़ा नाग आधा खड़ा हो गया था, फन लहराता, दोहरी जीभ लपलपाता।

थककर चूर-चूर हुआ सपरा लखीनाथ के पास बैठ गया। बीन नीचे रख दी। हारा हथियार रख देता है। एक समय सपरानाथ नामी-गिरामी बीनबाज था। बाध<sup>8</sup> खेलता था। दारू कला खा गई।

लखीनाथ की बीन का उठता लहरा अभी भी सपरा को चुनौती दे रहा था, ‘बजा, बजा और बजा।’

उसने लखीनाथ को बाँहों भर लिया और गले लगकर मिलने लगा। सपरानाथ के गले से लिपटा नाग

लखीनाथ की गर्दन से भी लिपट गया था, जैसे एक साथ खड़े दो पेड़ों के तनों से लता लिपट जाती है। लखीनाथ और सपरानाथ दोनों के बीच बैरी भाव चल रहा था, दो बाघों जैसा। रमती के कारण पैदा हुई यह दुश्मनी उनके भीतर साँप की तरह कुंडली मारे थी। सपरा इसी जोग लखीनाथ से लाठी-लाठी पिटा और महीनों खाट काटी थी। वे दोनों एक दूसरे से ऐसे मिले मानो खड़ग समाये दो म्याने मिली हों। उनके गले भले मिले थे, मन मैल से आँखें लाल थीं। तन का मैल नहाने-धोने से उतर जाता है, मन का मैल मरते रहता है।

डर के मारे रमतीबाई की घिग्घी बंध गई थी, वैसो ही जहर भूयो नाग है, उको आदमी डसो। वो बेवा हो गई। सपरा को बुलवा कर वह घणी पछताई। आ बैल मुझे मार वाली कर दी। दोनों अब नाग लड़ावैगा। उसने सयानपत (सयानापन) दिखाई। लखीनाथ के पास रखी नाग की टोकरी उठाकर भीतर रख आई।

लखीनाथ ने फन फनफनाते, दोहरी जीभ लपलपाते नाग का मुँह भींचा और दूर हटा दिया था।

सपरा बीन उठाकर उठ खड़ा हुआ था। नाग उसके गले से रस्से-सा लटक रहा था। गंदे-संदे कपड़े पहने, दारू पिया सपरानाथ इस वक्रत नफरत का पुतला-सा लग रहा था, सबको।

रमतीबाई कलेजा थामे अंदर चली गई थी। सपरानाथ उसकी पीठ देखता रहा।

पेन डायरी लिए खड़े गणेशी भले घिन लिए था। काम अपनी जगह रहा। उसने मिलन की ओर देखा फिर सपरा की ओर संकेत करके पूछा- “क्या नाम है तेरा ?”

“सप-रा-ना-थ।”

“बाप ?”

“दु-ब-ला-ना-।” उसके होंठ फिर फड़फड़ाए।

“दुबलानाथ ?” गणेशी ने पूछा।

“हूँ।” सपरा ने हाँ की।

“उम्र ?”

“..सिताइस बरस।” वह ज्यादा नहीं बोल पाया।

“जाओ अब।”

वह बीन का लहरा उठाता, लड़खड़ाते क्रदमों अपने डेरे की ओर बढ़ गया था। उसके गले से लटका साँप फिसलता-फिसलता नीचे गिर पड़ा था। सांप परती पड़े खेत में सर-सर-सर-सर करता भागने लगा। बिल ढूँढे, घुस जाये। एक बिल में मुंह तक घुस गये सांप को सपरानाथ ने फुरती से पकड़ा और झट गले में डाल लिया था, माला के गिर पड़ने पर उसे उठाकर फिर गले में पहन लेते हैं।

गणेशी ने संशय लिए मिलन की ओर देखा- “मेडम, यह तो बेकार-सा आदमी है। इसका नाम रखें या हटाएँ ?”

मिलन बोली- “रमतीबाई ने कहा है।”

लखीनाथ को चपड़की लगी।

मिलनदेवी ने लखीनाथ की ओर सी-ऑफ करता छोटा-सा हाथ हिलाया और ‘बनजारा टी स्टाल’ की ओर बढ़ गई थी।

सिपाही और गणेशी पीछे चले।

\* यह उपन्यास वन्यजीव संरक्षण अधिनियम-1972 से पूर्व प्रारम्भ होता है।

सम्पर्क : भाड़ावास हाउस, सी- 137,

महेश नगर, जयपुर-302015

मो.: 96360-53497

## संदर्भ

1. दो गरीब किसानों के घर एक-एक बैल होता था। पन्द्रह दिन एक किसान दूसरे किसान का बैल मांग कर हल जोतता था। पन्द्रह दिन दूसरा।
2. स्मृति
3. आँगन
4. यहाँ
5. छापा
6. रमना
7. मिलती
8. दो सपेरे बीन बजाते-बजाते एक-दूसरे पर मंत्र बुझे (कालबेलिया धारणा) मूंग या कंकड़ फेंक-फेंक कर अपने प्रतिद्वंद्वी को मात देने का स्वांग भरा करते थे, कभी एक सपेरा गिर पड़ता कभी दूसरा। इस खेल को देखकर दर्शक जिज्ञासु बने रहते और उनका भरपूर मनोरंजन होता था।



## लाली

रश्मि शर्मा

गीले बालों को तौलिये से अंतिम बार झटकाए और पलंग के पायताने रख, कमर तक लंबे बालों को छितराकर ठीक पंखे के नीचे बैठ गई सौम्या। सामने से छोटा टेबल खींचकर आलता रंगे पैर धरे और उंगलियों से बिछिया सरकाकर उसके नीचे नए बने सफेद निशान को सहलाया। उँगलियाँ भी कसे जाने पर बेचैन होकर छटपटा रही थी।

‘उफ! कितनी गर्मी है...’ होठों ही होठों में बुदबुदाकर तांत के लाल पाड़ वाली साड़ी के आंचल से चेहरा पोंछा। बहुत देर के बाद उसे एकांत मिला था। इतने गहने-कपड़े पहनकर कैसे रहती हैं सभी औरतें, उसे आश्चर्य हो रहा था। उससे तो एक दिन नहीं संभल रहा यह पहनावा।

अपनेआप से बतियाती सुनयना का बदन अचानक सिहर उठा। एक हथेली उसके बालों को सहला रही थी। कोई तो नहीं था कमरे में...ये किसका हाथ है?

पलटी तो उसे देखा।

‘तुम्हारे बाल बहुत सुंदर हैं... मुझे छूने दो न!’

पहचानने की कोशिश में लगा, कि देखा तो है इसे सुबह। मुँह दिखाई की रस्म के समय भीड़ में यह

भी थी। तब गौर नहीं किया था इस पर।

चेहरा तो खूबसूरत था मगर आँखें ऐसी, जैसे आश्चर्य में फैली हों, थोड़ी विस्फारित सी... दुनिया को टटोलती। मासूमियत के बावजूद कुछ ऐसे भाव थे, जो देखने पर खटक रहे थे सौम्या को। मगर क्या चीज है वो, उसे पकड़ नहीं पा रही थी।

**आँखों ही आँखों में कमरे का मुआयना करने लगी वह। पूरब वाली दीवार पर राहुल की तस्वीर लगी है ब्लैक एंड व्हाइट, जिसमें बेहद स्मार्ट लग रहा वो। नीचे सीमेंटेड रैंक बना है, जिसमें करीने से किताबें सजाई हुई हैं। कुछ कोर्स की तो कुछ उपन्यास भी दिखे, शरतचंद्र, रेणु और निर्मल वर्मा।**

उसने पीले रंग का फ्राक पहन रखा था। बालों को रिबन से बाँधकर दो चोटी बनाई गई थी। वो मुस्करा रही थी, मगर सौम्या को न जाने क्यों उसे देखकर अपने घर में लगे बोनसाई पौधे की याद आने लगी।

जवाब में सौम्या के भी होंठ मुस्कराए। ‘आइये... बैठिये न’ पलंग से गीला तौलिया उठाकर कुर्सी के पुश्त पर टिका दिया। जाने कौन है, क्या रिश्ता है... अभी तो जो मिले उसे सम्मान देना है। शादी के बाद आज पहला दिन है ससुराल में।

‘आप भी आओ न सुम्मी बहु, मेरे पास बैठो’

फिर चौंकी सौम्या। सुम्मी ...इस नाम से तो उसे कोई नहीं पुकारता। फिर यह छोटी लड़की मुझे तो किसी बुजुर्ग की तरह संबोधित कर रही है। मन ही मन उलझती सौम्या बैठ गई पास उसके। फिर उसने बालों



में उंगलियाँ फिराई। 'सुम्मी बहू, तुम्हारी चोटी मैं बनाऊंगी। कितने रेशम से बाल हैं तुम्हारे।'

'बना दीजिएगा, अभी पहले सूख जाएं।'

वह ऊपर से नीचे तक देख रही थी सौम्या को। उसकी आँखों में अजीब-सी चमक थी। उसने सौम्या के हाथ खींच कर अपने हाथों में लिए।

'बहुत गहरी मेंहदी रची है। मुझे मेहंदी बहुत पसंद है। क्या तुम लगा दोगी मुझे?'

'हाँ, लगा दूँगी। आपका नाम क्या है?'

'मेरा नाम लाली है बहू' वह फिर बालों को छूने लगी।

न जाने सौम्या को क्यों अजीब-सी घबराहट हो रही थी। अभी तक अकेला कमरा उसे सुकून दे रहा था मगर अब लगने लगा कि कोई आ जाए तो, इस लाली का ध्यान बंटे। अजीब अंदाज़ में घूर रही थी उसे। दिखने में तो छोटी ही है। कद भी दरम्याना। एक झलक देखने से आठ-दस वर्ष की दिखती है। मगर चेहरे पर जो भाव हैं...उफ.. इस छोटी लड़की की नजरें क्यों भेद रही हैं मुझे।

'आप हमारी कौन हैं लाली?' सौम्या से रहा नहीं गया तो उसका अस्तित्व जानने की उत्कंठा में पूछ बैठी।

'मुझे नहीं जानती हो? किसी ने नहीं बताया मेरे बारे में?' लाली ने इस अंदाज़ से कहा कि सकपका गई सौम्या। एक बार तो लगा कि कितना ग़लत सवाल पूछ लिया उसने। बहुत रहस्यमय लग रही थी वो। सोच ही रही थी कि अब क्या बात करे उस लड़की से कि पता चले वो है कौन और उससे चाहती क्या है!

तभी ड्रेसिंग टेबल से कंधी उठाकर लाली उसके पीछे आकर खड़ी हो गई।

'आओ मैं कंधी करूँ तुम्हारी। देखो तो इतने लंबे बालों को ऐसे ही छोड़ दिया तुमने। उलझ जाएंगे।'

चुपचाप बैठी रही सौम्या। लाली उसके बालों पर बहुत हौले-हौले कंधी करने लगी, साथ ही कोई लोकगीत गुनगुनाने लगी थी, जो सौम्या के लिए बिल्कुल अपरिचित गीत था। उसे आश्चर्य भी हुआ कि इतनी छोटी लड़की का गला सधा है और उसे फोक याद भी है।

यह सुनयना का ससुराल है और विदाई के बाद आज सुबह इस घर में आई है। नाते-रिश्तेदारों से भरा था घर। मुँह दिखाई की लंबी रस्म और रात भर के जागरण के बाद उसका मन हो रहा था कोई कोना मिले और नींद पूरी कर ले। उसकी छोटी ननद समझ गई उसकी परेशानी। इसलिए बच्चों समेत सभी को कमरे से निकाला और भाभी सौम्या को कहा कि आप नहा कर कुछ देर सो लो।

'अब कैसे सोएँ... ये लाली मेरे बाल छोड़े तब न .....' मन ही मन सोचा सौम्या ने। छोटी बच्ची का बालों से प्रति इतना लगाव उसे असहज कर रहा था। अगर वह उसकी नेलपॉलिश या लिपस्टिक की बात करती, तो स्वाभाविक था। वह तो बड़ी-बूढ़ियों की तरह बालों के साज-संभाल की बात कर रही थी।

तभी लाली को आवाज लगाती ननद आई। 'चलो लाली, चाची को आराम करने दो।'

'नहीं, मुझे इन्हीं के साथ रहना है' मचल गई लाली। उसके गोरे गाल दहक उठे।

ननद सीमा ने बहलाया। 'दादी बाहर बुला रही हैं। एक तोता आंगन में आया है। सब बच्चे उसे घेर कर खड़े हैं, बस तुम्हारा ही पता नहीं।'

लाली को देखकर लग रहा था कि वह तोता देखने जाना भी चाह रही है और सौम्या का साथ छोड़ना भी नहीं उसे। दुबारा सीमा ने कहा कि उड़ जाएगा तोता, देर करोगी तो। यह सुनकर एक नजर सौम्या की ओर देखा...और निकल गई बाहर।

सौम्या ने लंबी सांस ली। 'ओ, तो यह राहुल के भैया की बेटी है। मगर इतनी अजीब...' उसके संस्कार ने यह बात सीमा के सामने कहने नहीं दिया।

राहुल शहर में नौकरी करता है और वहाँ उसे सरकारी क्वार्टर भी मिला है। मगर शादी की सारी रस्में गांव से हुईं, इसलिए विदा कर सौम्या भी गांव वाले घर में आई। गांव होने के बाद भी दोमंजिला पक्का मकान है। सारी सुविधाएं उपलब्ध हैं। सौम्या जानती है कि आखिरकार उसे शहर में रहना है, इसलिए थोड़ी कमी-बेशी को नज़रअंदाज़ करके चलना पड़ेगा, यह मां ने सीख दी थी उसे।

गर्मी की शादियाँ आफत लाती हैं, यह सोचते हुए सौम्या ने दरवाजा हल्का सा उड़का दिया और बिस्तर पर लेट गई। ठीक-ठाक कमरा है। सामने अलमीरा है एक ओर ऊपर छज्जा, जिसमें जैसे समान रखे जाते हैं जो कभी-कभी उपयोग में आते हैं।

आँखों ही आँखों में कमरे का मुआयना करने लगी वह। पूरब वाली दीवार पर राहुल की तस्वीर लगी है ब्लैक एंड व्हाइट, जिसमें बेहद स्मार्ट लग रहा वो। नीचे सीमेंटेड बैंक बना है, जिसमें करीने से किताबें सजाई हुई हैं। कुछ कोर्स की तो कुछ उपन्यास भी दिखे, शरतचंद्र, रेणु और निर्मल वर्मा। सौम्या खुश हुई कि खाली वक्त तो काटा जा सकता है यहाँ, इन कहानियों और उपन्यास में डूबकर। इस खयाल ने उसे और खुशी दी कि चलो, हमारी पसंद मिलती है, साहित्यिक चर्चाओं में भी वक्त अच्छा कटेगा।

पश्चिम की दीवार से लगा स्टडी टेबल था, जिसके कोने में था सफेद टेबल लैंप, जो पुराना होने के कारण धुँधला हो चुका था। उसके नीचे लड़के-लड़की

का एक जोड़ा है जिसकी पीठ पर लैंप टिका था। कभी बेहद खूबसूरत रहा होगा लैंप शेड। टेबल पर कलथई रंग का टेबल-क्लॉथ बिछा था जिस पर पीले रेशमी धागे से कढ़ाई की गई थी।

'च्चायस अच्छी है जनाब की' मन ही मन बोली सौम्या।

आज इस कमरे में पहली बार आई है और जब तक गांव में है, यहीं रहना होगा क्योंकि यह राहुल का कमरा है। राहुल जब भी गांव आता है, यहीं रहता है। जैसे भी बड़े घर में इतने कमरे थे, कि किसी को कमी नहीं थी। उसे अच्छा लगा यह सोचकर कि कभी-कभी

उसे गाँव में रहने का मौका मिलेगा। शुद्ध हवा और नीले आसमान पर चमकते लाखों सितारे कभी शहर के आसमान में नहीं दिखते। यह सब गाँव वालों को ही नसीब है। वह लकी है कि शहर और गांव, दोनों ज़िंदगी का आनंद ले पाएगी। स्वभाव से सभी परिवार वाले उसे अच्छे ही लगे।

आगे जाने क्या हो...।

नींद खुली तो शाम ढल गई थी। अहसास हुआ कि बेहद गहरी नींद सोई थी। शादी की थकान और रात्रि जागरण का ही असर था कि नई जगह पर अच्छी नींद आई। अगर ननद नहीं उठाती तो जाने कब तक सोई ही रहती।

उसे उस कमरे से निकालकर ननद ने दूसरे कमरे में बिठा दिया। कई लोग पहले से मौजूद थे और आपस में हंसी-मजाक चल रहा था। उसके लिए चाय भी वहीं आ गयी। पीकर ताजगी का अनुभव हुआ। सौम्या का मन कर रहा था कि वह घर घूम कर देखे कि क्या और कहां है। मगर नई बहू होने के नाते उसे अभी दूसरों के इशारों पर ही चलना होगा, यह जानती थी वो।

लगभग घंटे भर बाद वह अपने कमरे में गई तो सारा हुलिया बदला हुआ था। आँखों में आश्चर्य भरकर कुछ देर तो वह उस कमरे को निहारती ही रही, जिसे अभी कुछ देर पहले छोड़कर गई थी।

पलंग पर गुलाबी रेशमी चादर बिछा था और उस पर रजनीगंधा की लड़ियां सजाई गई थी। यहाँ तक कि पायतानों पर भी रजनीगंधा लिपटी हुई थी। बिस्तर पर लाल गुलाब की पंखुडियों से दिल बना था। कोने-कोने में फूलों के गुच्छे सजाए गए थे। मुग्धा हो गई सुनयना अपने कमरे की सज्जा देखकर। उसे उम्मीद नहीं थी कि गांव में भी 'पहली रात' के लिए इतना सुंदर कमरा मिलेगा उसे। जब ननदों ने खिलखिलाते हुए उसे टहोका- 'किस सोच में डूबी हो भाभी?' तब जाकर उसकी तंद्रा टूटी।

सीमा ने उसे ड्रेसिंग टेबल के सामने बिठा दिया और जुट गई उसके शृंगार में। अब वह तांत की नहीं, लाल रेशमी साड़ी पहने हुई थी और उसकी सज्जा फूलों के गहने से की गई थी। फूलों का हार, कान के लटकन और मांग टीका भी। एकदम परी लगने लगी थी सौम्या। वह अपने ही रूप पर रीझ गई थी। कुछ देर बाद वह फूलों की पंखुडियों के बीच खिला गुलाब बनकर बैठी थी, राहुल के इंतजार में।

इस दिन केवल घरवाले ही थे, जो आसपास मंडरा रहे थे। राहुल के कुछ दोस्त भी थे जो अलग-अलग कोणों से उसकी तस्वीरें खींच रहे थे। कुछ देर बाद राहुल को भी पकड़कर उसकी बगल में बिठा दिया गया। घर वाले आकर कमरे की सज्जा की तारीफ करते और सौम्या की सुंदरता की प्रशंसा कर लौट जाते। बच्चे भी धमा-चौकड़ी मचाए हुए थे। राहुल बच्चों के प्रिय हैं, इसका तो अनुमान हो ही गया था उसे। छोटी ननद इतना ध्यान रख रही थी कि कोई भी बच्चा बिस्तर पर ऊपर चढ़कर सजावट बिगाड़ न दे।

अचानक देखा सौम्या ने कि लाली दरवाजे का पल्ला पकड़े जाने कब से खड़ी है और वैसी ही नजरों से

देख रही थी, जिससे वह असहज महसूस कर रही थी दिन में। उसने सोचा एकांत पाते ही राहुल से सबसे पहले लाली के बारे में पूछूंगी कि आखिर ये इस तरह से क्यों व्यवहार करती है। कुछ तो है जो सामान्य नहीं।

वक्त गुज़रा। रात की घड़ी ने ग्यारह बजाए। सभी चले गए मगर लाली पास वाली कुर्सी से उठी ही नहीं। कमरे में बस तीन लोग बचे थे। सौम्या के साथ-साथ राहुल की भी इच्छा हो रही थी कि उसे एकांत मिले तो वो दोनों आपस में बात करें। यह अरेंज मैरिज थी और उन्होंने फोन पर बातचीत की थी, मगर दूर से बात करना और सामने एक दूसरे को देखते हुए बात करने में काफी फ़र्क़ होता है। फिर आज तो जीवन की चिर-प्रतीक्षित रात थी।

राहुल ने कहा- 'लाली, अब हमें नींद आ रही है। जाओ, तुम भी अपने कमरे में सो जाओ।'

'मैं यहीं सोऊंगी, चाची के साथ।'

'नहीं लाली, आज नहीं कल सो लेना। आज मम्मी के पास जाओ।'

'मुझे नहीं जाना किसी के पास। यहीं सोऊंगी तो बस यहीं सोऊंगी।'

'अच्छे बच्चे ज़िद नहीं करते। जाओ तुम अब।'

'मैं अच्छी बच्ची नहीं, कहकर कूदकर बिस्तर पर चढ़ गई लाली। राहुल रुको-रुको कहता ही रह गया। अब राहुल और सौम्या के बीच लाली बैठी थी। सौम्या ने उसे प्यार से खींचकर गोद में बिठा लिया और समझाने की कोशिश की कि रात ज्यादा हो गई है बच्चों को सो जाना चाहिए। हमलोग सुबह फिर बात करेंगे और शाम को लाली को लेकर घूमने भी जाएंगे।

'तुम तो चुप ही रहो बहू' तेज आवाज में एक बार फिर आदेश दिया लाली ने। सच में चुप हो गई सौम्या।

राहुल के समझाने का कोई असर नहीं हो रहा था उस पर। बहुत देर तक जब ज़िद पर अड़ी रही लाली

और उनका दरवाजा देर रात खुला देख ननद आई अंदर। लाली को देखकर सब बात समझ गई। पहले तो उसे मनाने की कोशिश की, मगर वह उठी ही नहीं। तब वह जाकर बड़ी भाभी को बुला लाई।

‘लाली....नीचे उतरो।’

‘नहीं...’ कहकर लाली सौम्या से चिपक गई।

भाभी ने उसका हाथ पकड़ लिया और खींच कर ले जाने लगी, तो अचानक इतनी जोर से रोई कि सब दंग रह गए। लाली की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे....घबराकर राहुल ने भाभी के हाथ से लाली का हाथ छुड़ाया और उसे सीने से लगा लिया।

‘देखो ....साँसें चढ़ गई न। भाभी छोड़ो, रहने दो यहीं।...’

‘बिगड़ गई है एकदम...

किसी की नहीं सुनती। बेवकूफ लड़की...’ क्रोधित नेत्रों से लाली को घूरती और बड़बड़ाती हुई उसकी माँ बाहर चली गई। राहुल ने उसे बिस्तर पर लिटा दिया। सिसकती लाली एक हाथ से चाची का आंचल पकड़ के और दूसरे से राहुल का हाथ, बीच में सुबकती रही। यह सारा कुछ मौन भाव से सौम्या देखती रही।

लगने लगा कि लाली नींद में चली गई और राहुल उसे चादर से ढकने लगा तो सौम्या को समझ आया कि आज की रात लाली यहीं सोएगी। यह कैसा अन्याय है। आक्रोशित सौम्या राहुल की ओर देखने लगी, ताकि उसे समझ आए कि सौम्या को लाली का यहाँ सोना पसंद नहीं आ रहा। मगर विवश-से राहुल ने अपना चेहरा दूसरी तरफ घुमा लिया।

दोनों जाग रहे थे मगर उनके बीच दस साल की लाली सोई थी। जाने सोई भी थी या सोने का

दिखावा कर रही थी। आज पहली रात के बारे में कितना कुछ सुन रखा था सौम्या ने। प्यार की बात तो दूर, वो दोनों एक दूसरे से बात भी नहीं कर रहे थे।

सौम्या परिस्थिति को समझने की कोशिश कर रही थी कि आखिर लाली रात को उनके बीच क्यों मौजूद है और राहुल ने भी उसे ले जाने से मना कर दिया सबको। क्या राहुल के मन में अपनी नई-नवेली पत्नी के लिए सामीप्य की चाहत नहीं ? कहीं राहुल ही तो नहीं चाहता कि वो दोनों अकेले रहें। लाली का राहुल से लगाव तो समझ आता है मगर वह मुझसे इस कदर क्यों चिपक रही है, यह बात सौम्या की समझ से बाहर थी।

अपने मानसिक द्वंद्व से जूझती सौम्या ने पहल की...’ सुनिये, ये सो गई है, इसके कमरे में छोड़ आइए।’

‘जाग जाने से तंग करेगी। अगर फिर से दौरा पड़ा, तो फिर रात में हास्पिटल ले जाना पड़ेगा।’

‘तो क्या आज यहीं रहेगी यह?’

.....कोई जवाब नहीं मिला।

करवट बदल लिया सौम्या ने। समझ गई कि लाली को इस बिस्तर से उठाना आसान नहीं। उस रात दोनों में फिर कोई बात नहीं हुई। सौम्या नाराजगी से भरी थी और बेबसी में उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे।

उनकी पहली रात यानी सुहागरात में लाली मौजूद थी।

सुबह सबके चेहरे पर शर्मिंदगी का भाव था। सौम्या ने अपनी नाराजगी चेहरे से जाहिर नहीं होने दी, मगर वह इस पहेली को समझ नहीं पा रही थी। लाली राहुल के बड़े भाई की बेटा है, तो वह रात को उनके बीच क्यों थी ? लाली के मन में ऐसा क्या है जो उसे एक पल के लिए भी अकेला नहीं छोड़ रही थी। जबकि उसके माता-पिता इसी घर में मौजूद हैं, तो भी सभी

**बस्तर पर आज पखुड़ियां  
नहीं थीं मगर सजाए गए  
मोगरे के फूल अब भी सुगंध  
बिखरे रहे थे। उनके  
वैवाहिक जीवन की पहली  
रात राहुल के माफी माँगने  
और सौम्या के माफ कर देने  
से शुरू हुई। आज लाली  
नहीं, बस प्यार की चांदनी  
बिखरी थी**

इतने बेबस क्यों हैं।

कुछ भी समझ नहीं पा रही थी सौम्या। मगर यह बात उसे बुरी तरह कचोट रही थी कि उसके जीवन का सबसे सुंदर दिन इस लड़की पर कुर्बान हो गया। क्या ये दिन कभी दुबारा लौटते हैं?

आज रसोई छुलाई की रस्म थी। सौम्या को रसोई ले जाया गया, जहां उसने खीर बनाई। घरवालों ने उसकी बनाई खीर खाकर शगुन के पैसे दिए। शादी का घर मेहमानों से भरा था। लाली भी घूमती-फिरती नजर आ जाती। कई बार तो वह आकर जबरदस्ती उससे सट कर खड़ी हो जाती।

दोपहर भी तमाशा हुआ। उसकी ज़िद थी कि उसे खाना चाची अपने हाथ से खिलायेगी, तभी खायेगी। अब अंदर ही अंदर सौम्या को लाली से चिढ़ होने लगी। ये लड़की तो गले ही पड़ गई है। सौम्या को बच्चे अच्छे लगते हैं, मगर ऐसे नहीं कि हमेशा उनके साथ ही रहे या उनकी फरमाइश पूरी करती रहे।

दोपहर वह आराम करने गई तो कुछ देर तक राहुल का आसरा देखा कि शायद वो आए। मगर उसका कोई पता नहीं था। उसका जी चाह रहा था कि अंदर से दरवाजा बंद कर सो जाए क्योंकि गुस्से और उलझन में रात उसे नींद नहीं आई ठीक से। एक तो नया घर और बिस्तर... ऊपर से सुहागरात के दिन एक किशोर होती लड़की उसकी बगल में सो रही थी।

एक बार तो उसे शक हुआ कि कहीं यह राहुल की तो संतान नहीं। क्या पता, उससे छिपाकर शादी कर दी गई हो। आजकल किसी का कुछ पता नहीं। बहुत धोखे होते हैं सभी रिश्तों में। दूसरे ही पल खुद को धिक्कारा... असंभव। इतना बड़ा झूठ बोलकर कोई शादी नहीं करेगा। हो सकता है राहुल वाकई अपनी भतीजी से अपार स्नेह रखता हो।

लाली की पहेली सुलझने के बजाय उलझती ही जा रही थी। क्या पूछे... और किससे पूछे के असमंजस में फंसी रही बहुत देर तक।

शाम को चाय लेकर उसकी छोटी ननद सीमा आई। सौम्या ने पूछा, 'राहुल नहीं दिख रहे हैं कहीं बाहर गए हैं क्या?'

'राहुल भैया लाली को लेकर आइसक्रीम खिलाने गये हैं। वह ज़िद कर रही थी मोटरसाइकिल पर घूमने की।'

अब और बर्दाश्त नहीं हुआ सौम्या से तो पूछ बैठी- 'सीमा, यह लाली इतनी ज़िद्दी क्यों है?'

'हां भाभी, वह बचपन से ही बहुत ज़िद्दी है। जब से उसकी मां नहीं रही, वह किसी से कंट्रोल ही नहीं होती। कुछ मना करो तो रोते-रोते सांस अटका लेती है। डाक्टर ने कहा है कि ऐसे में अचानक कुछ भी हो सकता है। इसलिए हम सबको उसकी बात माननी पड़ती है।'

अचकचा गई सौम्या 'तो मोनिका भाभी... क्या वो लाली की मां नहीं?'

'नहीं भाभी, भैया की दूसरी पत्नी हैं मोनिका भाभी।'

'ओह.... तो यह बात है। हो सकता है लाली को अपनी मां की कमी खलती हो। राहुल उसे प्यार करते हैं, तो संभव है उसे लगता होगा कि उसे मैं भी प्यार करूंगी, इसलिए मेरे करीब रहना चाहती होगी।' कुछ कुछ समझ रही थी सौम्या अब, मगर सब कुछ जानने को बेसब्र हो उठी थी सौम्या।

सौम्या ने हाथ पकड़कर बिठा लिया सीमा को। 'सीमा प्लीज... मुझे सारी बात बताइये कि क्या है। मैं कल रात से बहुत परेशान हूँ। लाली मेरे साथ भी अजीब व्यवहार कर रही है जैसे मैं उसके सामने बहुत छोटी हूँ। कुछ समझ नहीं पा रही माजरा क्या है। राहुल ने भी कुछ नहीं बताया... आप सब बताओ....।'

'कुणाल भैया की पत्नी मोनिका बहुत प्यारी महिला थीं। शादी के तुरंत बाद उनकी बेटी हुई लाली, जो प्यार से पल रही थी। जब लाली तीन साल की तभी

एक बार भाभी को बुखार आया, और मामूली बुखार के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। हमें विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा भी हो सकता है।

कुणाल भैया सबसे विरक्त हो गए। अपनी बच्ची पर भी ध्यान नहीं देते। तब राहुल भैया की नौकरी नहीं लगी थी। उन्होंने ही लाली को संभाला। उसका खाना-पीना... उसे सुलाना और घुमाना। लाली अपने पापा से दूर होती चली गई। राहुल को चाचा कहती थी मगर वह उसके लिए पिता से बढ़ कर हैं। इसलिए अपने पिता से ज्यादा चाचा से जुड़ गई है वो। यहाँ तक कि स्कूल जाते समय चोटी बनाना, कपड़े पहनाना सब करते थे।'

सीमा विस्तार से सौम्या को सब बताने लगी। वह समझ रही थी कि नई भाभी के मन में बहुत सारे सवाल हैं। जब तक उन्हें जवाब नहीं मिलेगा, बेचैन ही रहेंगे।

'दो साल ऐसे ही निकले।

जमाने से विरक्त भैया को देखकर सबने तय किया कि उनकी दूसरी शादी करा दी जाए। ना-ना करते आखिरकार कुणाल भैया शादी के लिए तैयार हो गये और मोनिका भाभी बनकर हमारे यहाँ आ गई। उन्हीं दिनों की बात है कि राहुल भैया की नौकरी लगी और उन्हें दूसरे शहर जाना पड़ा।'

इतना ही बता पाई थी सीमा, तभी लाली के साथ राहुल लौट आए। लाली सौम्या के लिए भी आइसक्रीम पैक करा लाई थी। 'लो सुम्मी... तुम्हारी फेवरेट आइसक्रीम केसर-पिस्ता।'

लाली को मेरी पसंद का फ्लेवर कैसे पता? फिर एक बार आश्चर्य में डूबी थी सौम्या। यह लड़की तो वाकई पहली है मेरे लिए। फिर सोचा शायद बातों ही बातों में उसने राहुल को बता दिया होगा और उसे खुश करने के लिए राहुल लेकर आया है आइसक्रीम। जो भी

हो, लाली की गुत्थी सुलझ ही जाएगी अब।

उन तीनों को छोड़कर सीमा चली गई। मन ही मन सोचा सौम्या ने कि जब उसे यहीं रहना है तो लाली के साथ सामंजस्य बिठाना ही पड़ेगा। राहुल लेट गए थे आकर बिस्तर पर और वह लाली से बातें करने लगी। सामान्य-सी लाली कभी कभी उसे घूरती, तो वही असहजता महसूस करने लगती सौम्या, मगर खुद को ही झिड़कती।

सबने मिलकर प्लान बनाया कि आज लाली के कमरे में सोएँगे राहुल और सौम्या, यह बताया जाएगा लाली को, ताकि उसके सोने के बाद वो दोनों अपने कमरे में जा सकें। हुआ भी यही। निश्चिंत लाली सो गई तब सोने का दिखावा करते वो दोनों अपने कमरे में गए।

बिस्तर पर आज पखुंडियां नहीं थीं मगर सजाए गए मोगरे के फूल अब भी सुगंध बिखेर रहे थे। उनके वैवाहिक

जीवन की पहली रात राहुल के माफी माँगने और सौम्या के माफ कर देने से शुरू हुई। आज लाली नहीं, बस प्यार की चांदनी बिखरी थी उनके इर्द-गिर्द। कल के शिकवे को खत्म करने की पूरी कोशिश कर रहा था राहुल और सौम्या भी भरपूर साथ दे रही थी। वो नहीं चाहती थी कि नए जीवन की शुरुआत केवल एक रात बर्बाद होने के मलाल के साथ हो। दोनों एक-दूसरे की भावनाओं को समझते हुए प्रेम की नदी में बहने लगे।

सुबह स्कूल जाने से पहले कंधी लेकर लाली राहुल के पास आई कि मेरे बाल बना दो। सौम्या ने कहा मैं बना देती हूँ, तो कहने लगी, 'नहीं....चाचा ही बाल बनाएँगे मेरे।'

उसके जाने के बाद राहुल ने बताया कि लाली के बाल बचपन में बहुत लंबे थे। जब मैं था तो उसकी चोटी बना दिया करता था। मगर उसे अस्थमा की शिकायत

है। पिछले साल वह छुप-छुप कर पानी में भीग जाती, जिससे उसके बाल नहीं सूखते। ऐसे में उसे अटैक आया और महीनों बीमार पड़ी रही। गुस्से में जाकर कुणाल भैया ने उसके बाल कटा दिए, जिस पर खूब हंगामा किया उसने। मोनिका भाभी उसे प्यार करती हैं मगर लाली ही अपनी माँ से जुड़ाव महसूस नहीं करती।

ओह... तो यही कारण है कि उसे बालों से इतना लगाव है। वो तो जाने क्या-क्या सोचने लगी थी। अब सौम्या को लाली से शिकायत नहीं रही। राहुल ने जिस बच्ची को पालकर बड़ा किया है, उसे भला कैसे नहीं प्यार करेगी वो!

शादी के सवा महीने तक उसे अपनी ससुराल ही रहना था। यही उसकी ससुराल की परिपाटी थी। एक सप्ताह के बाद राहुल को फिर से नौकरी ज्वाइन करनी थी। राहुल के जाने की सोचकर ही सौम्या को उदासी ने घेर रखा था, मगर नौकरी की मजबूरी से वाकिफ थी। सौम्या भरसक कोशिश कर रही थी कि राहुल को उदास न दिखे।

शाम ड्रेसिंग टेबल के सामने बाल संवारते यही सब सोच रही थी वो कि बाहर से आई आइट ने उसकी तंद्रा भंग की। जाने कौन है बाहर, सोचा ही था कि आईने में राहुल आता हुआ दिखा।

‘सुनिये मैडम, आज आठ बजे की ट्रेन से जाना है हमें। दो-तीन रोज़ में पक्का वापस आ जाएंगे। आप उदास मत रहना।’

सौम्या। ने जब कोई जवाब नहीं दिया तो उसके करीब आकर कंधे पर हाथ रखता हुआ बोला ‘सारी यार, मुझे तुम्हें छोड़कर नहीं जाना चाहिए था मगर बहुत अर्जेंट आफिशियल वर्क है और इसमें मेरा पर्सनल इंटरैस्ट भी। मैं जानता हूँ यहाँ तुम्हें मेरे बिना रहना अच्छा नहीं लगेगा, मगर यकीन मानो, वापस आकर मैं तुम्हारी हर शिकायत दूर कर दूँगा।’

सौम्या को उसका बेचारा-सा मुँह देखकर तरस आ गया लेकिन अपने मन के भाव छिपाते हुए बोली, ‘जाइए हमने कौन-सा आस्तीन पकड़ कर रोका है आपको। वैसे भी यहाँ रुक कर करना क्या है? जाकर अपना काम कीजिए।’

अपराधबोध से भरे राहुल ने पूछा- ‘आपके लिए कुछ लेता आऊँ शहर से?’

‘ऐसा है राहुल, हम गांव वाले तो हैं नहीं। शहर में जिंदगी गुजारी है अब तक, सो कोई अनूठी चीज़ तो मिलेगी नहीं वहाँ जो आप मेरे लिए लेकर आइए। इसलिए ये चोंचले मेरे सामने तो न दिखाइए।’

कमरे के हल्के अँधेरे में राहुल के खिसियाये चेहरे का मजा लेती हुई उसके पास आई और हाथों में हाथ लेकर बोली- ‘मुझे किसी चीज़ की जरूरत नहीं। बस आप जल्दी आ जाइए मैं इंतज़ार करूँगी।’

राहुल का चेहरा खिल उठा और उसने सौम्या को प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया। ‘मतलब आप मुझे मिस नहीं करने वाली हैं?’

‘मिस करूँगी तो मन लगाने के लिए आपकी लाइब्रेरी से कुछ पढ़ लूँगी। वैसे भी लाली है न... उसने तो अभी तक घर की पिछली दीवार पर टंगे घड़ों का आशियाना ही दिखाया है मेरी सासू माँ के प्रिय कबूतरों का। अभी कितना कुछ देखना बाकी है। आप मेरी चिंता मत कीजिए।’

खाना खाकर राहुल चला गया। उसे स्टेशन तक जाने का मन था मगर सबने मना किया कि ट्रेन बहुत कम देर रुकती है। इसलिए कोई फायदा नहीं।

वह नीचे डायनिंग रूम में ही थी तभी सीमा ने कहा कि आज वो साथ सोएगी ताकि उन्हें अकेलापन न लगे। लाली अपनी मम्मी के साथ सोने वाली है।

शायद सीमा ने लाली को चिढ़ाने की गरज से यह बात कही थी क्योंकि यह कहते हुए कनखियों से लाली की तरफ देख भी रही थी। सच में लाली चौकड़ी

हो उठी और उसके पास आकर धीरे से बोली- 'सुम्मी बहू, तुम गुस्सा हो क्या मुझसे?'

उसकी मासूम आँखें देख सौम्या को प्यार उमड़ा और उसे अपने से सटाकर बोली- 'बिल्कुल नहीं। आप तो हमारे साथ ही सोयेंगी।' लाली खुश होकर सीमा को देखकर मुँह चिढ़ाने लगी। सब लोग इस चुहल से हंस पड़े और राहुल के जाने की उदासी छंट सी गई।

कुछ देर बात वह अपने कमरे में थी। सौम्य ने साड़ी बदल कर गाउन पहना। लाली वहीं बैठकर कार्टून देखने लगी। सीमा को अपनी पढ़ाई करनी थी इसलिए वह यह कहकर चली गई कि पढ़ने के बाद सोने के लिए यहीं आ जाएगी। सौम्या राहुल की छोटी सी लाइब्रेरी से छांटकर कीट्स की 'कविताओं की मीमांसा' किताब पढ़ने लगी। इसी बीच राहुल का फ़ोन आया।

'तुम ठीक हो सौम्या? मुझे नींद आ रही है। सोने से पहले सोचा तुम्हें गुड नाइट कह दूँ।'

'हां, बिल्कुल ठीक हूँ। आप आराम से सोइए। यहाँ सीमा और लाली हैं मेरे साथ।'

राहुल से बात करने के बाद उसे लगा कि कोई अच्छी सी नॉवेल या कहानी संग्रह पढ़नी चाहिए। उसने शेल्व के पीछे की किताबों को तलाशना शुरू किया। एक पुरानी सी जिल्द लगी किताब निकालकर देखी तो वह खुश हो गई कि यह अज्ञेय की सुप्रसिद्ध किताब थी 'नदी के द्वीप' जिसे पढ़ने की इच्छा बहुत दिनों से थी उसे।

आज सुकून से अपनी मनचाही किताब पढ़ पाएगी, इस गरज से वह अपने बेड पर आ गई। सीमा को आने में देरी थी और लाली टीवी देखते-देखते वैसे ही अधलेटी-सी सो गई थी। बेचारी बच्ची...जाने क्यों दया- सी आयी उसके लिए और सौम्या ने उसे ठीक से बिस्तर पर लिटाकर चादर ओढ़ा दिया। टीवी ऑफ किया तो लाली हल्की-सी कुनमुनाकर सौम्या से सटकर सो गई।

अब आराम से तकिए की टेक लगाकर अपनी फेवरेट बुक खोली तो उसके पहले पन्ने को खोलते ही कोने में लाल स्याही से लिखा एक नाम नजर आया 'जनक दुलारी गुप्ता', जैसे सौम्या के मस्तिष्क में कहीं टन्न से टकराया यह नाम। उसी वक्त लाली के हाथ का कसाव अपनी बाजू पर महसूस किया उसने। लाली की ओर देखा तो वह गहरी नींद में सो रही थी, मगर उसके होठों से कुछ अस्फुट से स्वर निकल रहे थे। ध्यान देकर सुना तो जैसे वो बड़बड़ा रही थी... 'सो जाओ न सुम्मी...सो जाओ।' फिर चुप....

उसे लगा लाली से पहले भी कोई उसे इस नाम से पुकारता था... सुम्मी।... कौन पुकारता था? नज़र अचानक किताब पर लिखे नाम पर गई...अरे, जनक दुलारी मैडम यानी उसकी जनक दीदी...उसकी हिंदी की टीचर।

उफ ...

बिस्तर से उतर गई सौम्या। समय देखा, साढ़े नौ हुए थे। माँ अभी जाग ही रही होंगी। उसने तुरंत माँ को फोन लगाया। पहले इधर-उधर की बातें की। राहुल के जाने की बात बताई, फिर सीधे पूछा- 'अच्छा माँ...बताओ, कभी कोई मुझे सुम्मी के नाम से बुलाता था क्या घर में?'

'नहीं...घर में तो नहीं, मगर जब तुम छोटी थी तो तुम्हारे पापा का तबादला गिरिडीह में हुआ था, वहाँ एक स्कूल टीचर थी, जो तुम्हें सुम्मी कहकर बुलाती थी। वह तुम्हारे ससुराल के आसपास की ही थी....।'

आगे क्या बोला माँ ने, उसे सुनाई नहीं दिया। उसे सब याद आने लगा। वह दूसरी या तीसरी कक्षा में रही होगी तब हिंदी की टीचर जनक दीदी उसे बहुत अच्छी लगती थी। जनक दीदी बहुत खूबसूरत थी दिखने में और गला भी उतना ही सुरीला था उनका। रोज सुबह अपनी मीठी आवाज में स्कूल की प्रार्थना गाती वो और सब बच्चे उनके पीछे-पीछे दुहराते थे।



जनक दीदी भी सब बच्चों से ज्यादा उसका ध्यान रखती। सौम्या के बाल शुरू से ही भूरे और कर्ली थे। सुबह जल्दी-जल्दी नहाने पर गीले बालों को कंधा करना भी कितना मुश्किल काम है, यह बात माँ के झल्लाहट से समझ आ जाती थी। कई बार वह ऐसे ही स्कूल भाग कर चली आती तो जनक दीदी उसके बाल बना दिया करती थी। वह अकेली रहती थी, इसलिए शायद सौम्या को बहुत प्यार करती थी। कभी-कभी उसे टॉफी भी देती थी। दो-तीन बार उनके घर भी आई थीं वो।

उसे याद है माँ को बाबा से कहते सुना था- 'कितनी अच्छी हैं ये टीचर, मगर भगवान भी कुछ लोगों के साथ बहुत अन्याय करते हैं। पति को लापता हुए कई साल हो गए। कोई बच्चा भी नहीं जिसके सहारे जी ले... ऊपर से ब्रॉकाइटिस की बीमारी.....'

एक दिन जनक दीदी अपनी क्लास में नहीं आई। खाली कक्षा में बच्चे शरारत कर रहे थे मगर सौम्या की आँखें अपनी दीदी को ही तलाश रही थी। अंत में जब रहा नहीं गया तो उनको ढूँढ़ते हुए स्टाफ रूम की तरफ चल पड़ी सौम्या जो क्लास रूम से दूर पीछे की तरफ था।

उस रोज अजब का सन्नाटा था गलियारे में। वह डरी, मगर चलती रही। कुछ देर में वह स्टाफ रूम के गेट पर थी। अंदर झाँकते ही उसे अजीब तरह से साँस लेने की आवाज सुनाई दी। सौम्या ने देखा कि जनक दीदी जमीन पर पड़ी हैं और बहुत अजीब ढंग से साँस ले रही हैं, जिससे गों....गों की आवाज आ रही थी। यह देखकर उसकी चीख निकल गई।

आसपास की कक्षाओं से निकलकर लोग उसकी तरफ दौड़े। देखते ही देखते सारा स्टाफ रूम भर गया और उसे आगे दिखना बंद हो गया। एक सर की नजर उस पर पड़ी तो उसने काम वाली दीदी की तरफ इशारा किया और दीदी ने उसे गोद में उठाकर उसके क्लास रूम में बिठा दिया।

उस दिन के बाद जनक दीदी कभी नहीं दिखीं। वह परेशान सी उन्हें तलाशती रहती। माँ ने पूछने पर बताया कि दीदी की तबियत खराब हो गई थी न, इसलिए वह अपने गाँव चली गई हैं। जल्दी ही ठीक होकर वापस आएंगी उसे पढ़ाने।

माँ यह कहतीं और स्कूल के बच्चे आपस में बात करते कि जनक दीदी तारा बनकर आसमान में चली गई हैं। अब वह कभी नहीं आएंगी। कई दिनों तक अबोध सौम्या आसमान के तारों में अपनी जनक दीदी को ढूँढ़ती। इसी बीच उसके पिता का ट्रांसफर हो गया और वक्त के साथ सारी यादें धुंधली पड़ती गईं। आज एक सिरा मिला तो सब कुछ सिल-सिलेवार याद आने लगा उसे।

भाभी...भाभी....क्या हुआ ? सीमा जोर-जोर से उसका कंधा पकड़ कर हिला रही थी। तंद्रा भंग होने पर महसूस किया कि वह रो रही थी।

'क्या हुआ भाभी, भैया की याद आ रही है या घर की याद आ रही है? माँ को बताऊँ क्या ...प्लीज आप चुप हो जाइए।'

परेशान सीमा उसके रोने की वजह तलाश रही थी। सौम्या वर्तमान में लौट आई थी। आँसू पोंछकर सीमा को पास बिठा दुलराया और कहा 'परेशान मत हो। बस मां की याद आ रही थी। अभी उनसे बात किया न... तो दिल भर आया तो रो पड़ी।'

'चलो भाभी अब सोओ, बहुत देर हो गई।' कहते हुए सीमा ने वो किताब उठा ली।

'अरे भाभी... इतनी पुरानी बुक आपने शेल्व से कैसे ढूँढ़ निकाली? जानती हैं...यहाँ अधिकतर किताबें जनक बुआ की हैं। पापा कहते हैं उन्हें बहुत शौक था किताबों का। जब वो नहीं रहीं, तो उनकी सारी किताबें पापा उठा लाए थे उनके घर से। इन पुरानी किताबों को कोई नहीं पढ़ता घर में, हाँ पापा को कई बार फुर्सत के क्षणों में इन किताबों तक जाते जरूर देखा है.... लाली

कई बार उठा लाती है इन्हें, एक बार तो उसने जनक बुआ की किसी किताब पर कितनी आड़ी-तिरछी लकीरें खींच दी थी... ये किताबें खराब न हो जाएँ इसलिए मैंने भैया के शेल्फ में पीछे सजा दी हैं इन्हें। देखो तो महारानी को....कैसे मजे से सोई है आपके बेड पर। ऐसा लगता है जैसे बचपन से इसे राहुल भैया ने नहीं, आपने ही पाला है।' लाली के चहरे पर फैले सुकून ने उस दिन उसके लिए सौम्या के भीतर एक अनकहा-सा स्नेह रोप दिया था।

सीमा के जाने के बाद सौम्या ने लाली को चादर ओढ़ाई.... नींद में हौले से कुनमुनाने के बाद लाली ने सौम्या की उंगली पकड़ ली थी।

अगली सुबह सौम्या देर से उठी। उसके चहरे पर एक नई चमक थी, जैसे कई रातों की नींद पूरी होने के बाद जगी हो... संडे के कारण न तो लाली को स्कूल जाना था और न ही सीमा को कॉलेज। बहुत दिनों के बाद गुनगुनाहट थी उसके होठों पर।

सौम्या नहाकर ड्रेसिंग टेबल के सामने बैठी ही थी कि लाली उसके पीछे आकर खड़ी हो गई।

‘लाओ सुम्मी, बाल मैं बना दूँ।’

बिना किसी झुंझलाहट के मुस्कराते हुये सौम्या ने कंधी लाली को पकड़ा दी थी। उसे याद आया जनक दीदी भी तो उसे सुम्मी ही पुकारती थीं। लाली के बोल अब भी उसके कानों में गूँज रहे थे... सुम्मी... जनक दीदी की सुम्मी.... लाली की सुम्मी... सौम्या ने आदमक़द आरसी में देखा- लाली बहुत तन्मयता से उसके बाल संवार रही है। उसे लगा जैसे लाली के मासूम चेहरे पर सहज ही जनक दीदी का चेहरा उतर आया है... चौंककर एक बार गहरी निगाहों से उसने फिर से लाली की ओर देखा... वह आपादमस्तक आश्चर्य से भर उठी- लाली... जनक दीदी... जनक दीदी.... लाली.... लाली और जनक दीदी के चेहरे जैसे आपस में घुलमिल से गए थे... अनजाने ही उसकी आँखें छलछलाकर धुंधली-सी हो

आईं। उसने आँचल के कोर से अपनी आँखें साफ की... लाली की नन्ही उँगलियाँ बहुत मनोयोग से उसकी चोटियाँ गूँथ रही थीं.... सौम्या का जी हुआ वह लाली को गले से लगा ले....

वह लाली की तरफ मुड़ना ही चाह रही थी कि उसकी आवाज़ एक बार फिर से गूँजी- ‘सर मत हिलाओ सुम्मी, चोटी टेढ़ी हो जाएगी’ सौम्या अच्छी बच्ची की तरह सीधी हो गई... उसकी आँखें अब भी भरी हुई थीं।

\*\*\*

संपर्क. रमा नर्सिंग होम, मेन रोड,  
राँची, झारखंड 834001  
मो. नंबर-9204055686



## तोहफा कैसा लगा मीता ?

नीलिमा टिक्कू

बस तेज रफ्तार से चली जा रही थी, साथ ही उसका मस्तिष्क भी तीव्रगति से विगत में हिचकोले खाने लगा था। माँ-पिताजी और भैया के साथ कितना खुशहाल परिवार था उसका। भैया..... कितना प्यार, लाड़-दुलार करते थे उससे। छुट्टी के दिन वे हमेशा देर तक सोते थे। माँ उन्हें बार-बार उठाने की कोशिश करती पर वह अपनी सुबह की नींद को किसी कीमत पर खोना नहीं चाहते थे। हाँ, राखी के दिन जब माँ उनसे कहती- अब उठ भी जा बेटा, मीता ने सुबह से कुछ नहीं खाया-पीया है, तो वह तुरन्त उठकर जल्दी-जल्दी शरीर पर पानी उँडेल कर बाहर आ जाते। उसे भूखी-प्यासी बैठी देख गुस्सा करते।

“मीता यूँ सुबह से भूखी-प्यासी बैठकर ये ढकोसला मत किया कर, खा-पी लिया कर। राखी मुझे बंधवानी है। मैं तुझसे कह रहा हूँ, आगे से इतनी देर तक निराहार मत बैठा कर। चल जल्दी से बाँध दे राखी।”

उनके बनावटी गुस्से में असीम प्यार छिपा रहता था। राखी बंधवा कर मिठाई खाते हुए वह चुपके से उसके हाथ पर उसका मन पसंद उपहार रख देते थे और वह खिल उठती थी। ये अलग बात है कि उस उपहार के लिए पिताजी उन्हें अलग से पैसे दिया करते थे।

खुशहाल बचपन देखते ही देखते व्यतीत हो गया

और शीघ्र ही उसके विवाह की घड़ी आ पहुँची। विदाई की वेला में माँ-पिताजी की आँखें नम थीं। अपने से पाँच वर्ष बड़े भैया को उसने अपनी विदाई पर पहली बार ज़ार-ज़ार रोते देखा था और वह भी तो तब कितनी दहाड़ें मार-मार कर रोयी थी। ऐसा दृश्य देखकर संदीप सहम गये थे।

**माँ की बात  
सुनकर मुझे  
अच्छा लगा था  
लेकिन कुछ दिन  
बाद जब ये सब  
चले जायेंगे तब  
माँ का क्या  
होगा, इसी  
उधेड़-बुन में मुझे  
देर रात तक नींद  
नहीं आयी।**

“इन्हें ब्याह कर ले जा रहा हूँ, लगता है बहुत बड़ा अपराध कर रहा हूँ। इस विवाह-उत्सव में इस समय मैं अपने आपको अचानक से एक खलनायक की भूमिका निभाते हुए देख रहा हूँ।”

उनकी बात सुनकर विदाई की उदास वेला में भी सभी के चेहरों पर मुस्कराहट उभर आयी थी।

पिताजी के बहुत कहने पर भी बड़े भैया मुझसे पहले विवाह के लिए राज़ी नहीं हुए थे। मेरे विवाह के साल भर बाद ही भैया ने विवाह किया था।

कुछ वर्ष तक तो मैं हर राखी पर पीहर जाती थी और भैया को बड़े चाव से राखी बाँधती थी किन्तु जबसे भैया ने व्यवसाय के सिलसिले में विदेश में अपना ऑफिस खोल लिया था तब से संयोगवश राखी के त्योहार पर हमेशा वे विदेश में ही होते और मैं उन्हें वहीं राखी भेजती थी। फिर भाभी भी वहीं चली गई, वहीं उनके एक प्यारा-सा बेटा हुआ। मैं भी दो बेटों की माँ बन गई

थी। पारिवारिक व्यस्तताएँ बढ़ने लगी थीं।

त्योहार पर मेरी राखी जब भी भैया को मिलती उनका फ़ोन आता, “मीता तेरी राखी तो मिल गई लेकिन उसे बाँधने वाला यहाँ कोई नहीं है। तेरी भाभी है वह बांध नहीं सकती” और ठहाका लगा कर हँस देते। हर राखी पर विदेश में बैठे भैया मुझे फ़ोन पर ‘फूलों का तारों का सबका कहना है, एक हजारों में मेरी बहना है...’ पूरा गाना सुनाते और मेरी आँखें सजल हो उठतीं।

माँ और पिताजी का आपसी तालमेल बहुत अच्छा था। दोनों ही मस्त-मौला स्वभाव के थे। भैया भाभी के विदेश चले जाने पर उन्होंने अपनी सामाजिक गतिविधियाँ बढ़ा दी थीं और उनकी सुखद व्यस्तता की वजह से मैं भी निश्चित थी।

समय का चक्र तेजी से घूम रहा था। गत वर्ष माँ और पिताजी, भैया-भाभी के पास विदेश घूमने गए हुए थे वहीं अचानक दिल का दौरा पड़ने से पिताजी का देहांत हो गया और माँ अकेली रह गई थीं। मैं पिताजी के अंतिम दर्शन भी नहीं कर सकी थी। मन बेहद दुखी था, मन ही मन मैं भैया से नाराज थी। अब पूरे एक वर्ष बाद भैया-भाभी अपने बेटे के साथ माँ को यहाँ छोड़ने आए थे। ऐसा मेरा अनुमान था। संयोगवश राखी का त्योहार भी आ पहुँचा था। बच्चों की परीक्षा चल रही थी इसलिए उन्हें पति के पास छोड़कर मैं अकेली ही बस में बैठकर सबसे मिलने जा रही थी। क्षुब्ध मन से मैं सोच रही थी, भैया अपने परिवार के साथ विदेश में बस गये हैं, माँ अब नितांत अकेली रह जाएंगी। मुझे पता था कि मैं कितना भी जोर लगा लूं माँ अपना घर छोड़कर कभी मेरे पास आकर नहीं रहेंगी। बेटी के ससुराल में रहना आज भी पसंद नहीं किया जाता है। इसी चिंता में डूबती उतरती मैं उदयपुर पहुँच गई थी।

बस के रुकते ही सामने भैया को खड़ा पाया तो दिल धक से रह गया। उनके बालों में सफेदी उतर आयी थी। पहले से काफी कमज़ोर नज़र आ रहे थे। मुझे

देखते ही उनकी आँखों में चमक आ गयी। मेरे हाथ से बैग लेकर मुझे नीचे उतारते भैया के गले लगने से मैं अपने आपको रोक नहीं पायी और हिलक-हिलक कर रोने लगी। भैया की आँखों में भी नमी तैरने लगी थी। मैं फुसफुसाई थी, “भैया पापा हमें छोड़कर क्यों चले गये?”

भैया ने मेरे कंधे थपथपाते हुए ढाँढस बँधाया, “ये क्या मीता, तू अभी भी छोटी बच्ची की तरह रोती है। नियति के आगे हम कितने मजबूर हो जाते हैं। देख मीता माँ के सामने ये सब मत करना।”

रास्ते में गाड़ी चलाते भैया से मैंने एक ही सवाल किया था, “भैया अब माँ का क्या होगा?”

भैया चुप बैठे थे। उनकी तरफ से कोई जवाब ना पाकर मैंने भी मौन धारण कर लिया था। घर पहुँचकर पिताविहीन घर मुझे काटने को दौड़ रहा था। मैं घर में घुसते हुए निरीह, बिन्दी-आभूषण विहीन माँ की कल्पना करती रोआंसी सी हो उठी थी। कैसे निकालेंगी माँ अपना आगे का जीवन.... भाभी आकर मुझसे लिपट गई थीं। तभी राहुल के साथ स्क्राइबल खेलती माँ पर मेरी नज़र पड़ी। माँ ने मैहरून रंग की साड़ी पहन रखी थी। हाथों में चूड़ियाँ और माथे पर बिन्दी लगाये माँ बिल्कुल वैसी ही लग रही थीं, जैसे पिताजी के समय में रहा करती थीं। माँ को सहज रूप में मुस्कराते देख मैंने मन ही मन चैन की सांस ली। अपनी आँखों में उमड़े आँसुओं को जब्त करती मैं उनसे गले मिली थी। माँ की आँखें भी नम हो आई थीं। भैया का संकेत समझ मैं बाथरूम में नहाने के बहाने अपने सारे आंसू बहाकर सहज रूप धर बाहर आ गयी थी। हमेशा की तरह भैया हमारे बचपन के किस्से भाभी और राहुल को सुना रहे थे। माँ के साथ-साथ सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो रहे थे तभी अचानक भैया को याद आया, “मीता, कल राखी है तू मेरे लिए राखी लायी है कि नहीं!?”

मैं भैया के लिए बहुत प्यारी सी राखी लायी थी। हालांकि राखी खरीदते समय मन में एक डर-सा था कि पता नहीं माँ की मानसिक स्थिति कैसी होगी, लेकिन

भैया-भाभी ने घर का वातावरण इतना सहज बना रखा था कि मेरे मुँह से बेसाख्ता निकल गया, “लायी हूँ भैया, बहुत प्यारी सी राखी लायी हूँ, आपके लिए। कितने वर्षों बाद मौका मिल रहा है रक्षाबंधन पर अपने हाथों से आपकी कलाई पर राखी बांधने का।”

मेरी बात सुनकर भैया का चेहरा खिल उठा, बोले- “फिर ठीक है मैं भी तुझे तेरा मनपसंद उपहार दूंगा”,

मैंने बुझे मन से कहा, “भैया अब बचपन की बातें छोड़ो, मुझे किसी उपहार की जरूरत नहीं है।”

भैया शरारत से मुस्कराये, “ठीक है वह तो कल ही पता चलेगा, मेरा दिया उपहार तुझे पसंद नहीं आये तो तू इंकार कर देना।”

वैसे तो मुझे माँ को देखकर तसल्ली हो गई थी फिर भी मैं उनसे अकेले में बात करना चाहती थी। सोचा था रात को सोते समय उनसे बातें करूँगी लेकिन राहुल और माँ का बिस्तरा एक ही कमरे में लगा था। माँ ने ही बताया था तेरे पिताजी के जाने के बाद से राहुल मेरे कमरे में ही सोता आया है। माँ की बात सुनकर मुझे अच्छा लगा था लेकिन कुछ दिन बाद जब ये सब चले जायेंगे तब माँ का क्या होगा, इसी उधेड़-बुन में मुझे देर रात तक नींद नहीं आयी। दूसरे दिन सुबह आशा के विपरीत भैया ने मुझे जगाया, “मीता कब तक सोती रहेगी, भई मुझे चाय की तलब हो रही है अब तो उठ जा।” मैं आश्चर्यचकित रह गई। भैया अभी तलक पुराने नियमों का पालन कर रहे हैं। नहा धोकर शीघ्र ही बाहर आई। भैया को पाटे पर बिठाकर उनका तिलक किया और उनकी कलाई पर राखी बांधी। मिठाई का टुकड़ा मुँह में डाल कर भैया बोले, “तेरे लिए इस राखी का उपहार क्या है तुझे बताता हूँ...”

मैंने उनकी बात काटते हुए पुनः अपनी बात दोहरायी, “भैया मुझे किसी उपहार की जरूरत नहीं है।”

“अरे मेरी बात पूरी सुन तो ले, तुझे पसंद नहीं आये तो मना कर देना।”

माँ और भाभी को मंद-मंद मुस्कराते देख मैं हैरान-सी भैया का मुँह देखने लगी, भला ऐसा भी क्या उपहार है?

भैया बड़े स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, “सुन मीता, कल तू ने कार में मुझसे ये सवाल पूछा था ना कि अब माँ का क्या होगा? पगली, क्या माँ केवल तेरी ही है हमारी नहीं? मीता मैं विदेश से अपना काम समेट कर यहीं अपने देश में वापिस आ गया हूँ। एक साल का समय इसीलिए लगा। अब हम माँ के पास यहीं रहेंगे अपने इसी घर में। यही तेरा राखी का उपहार है।”

कुछ रुककर भैया शरारत से मुस्कराये, हाँ अगर तुझे एतराज हो तो बता दे...

मैं फिर से छोटी बच्ची की तरह भैया के गले लग कर आँसू बहाने लगी थी।

भैया ने अपनी जेब से रूमाल निकालते हुए कहा, “तेरा मनपसंद उपहार दिया है फिर भी आँखों से गंगा-जमुना बहा रही है।”

राहुल हमारे वार्तालाप के बीच में कूद पड़ा, “पापा ये तो खुशी के आँसू हैं।”

भैया मुस्करा उठे, “बुआ के चमचे!”

शाम की बस से मुझे वापिस जाना था। मैं भाभी से लिपटी पड़ी थी। सच में ऐसे भाई-भाभी हैं तो मुझे माँ की कोई चिन्ता नहीं। मैं पूरी तरह से निश्चित थी। राखी का ये उपहार अनमोल था। एक बार फिर मैं बस में सवार हो कर अपने घर जा रही थी, मधुर यादों के साथ बिना किसी गिले शिकवे के....।

\*\*\*

सम्पर्क :ई-311, लालकोठी स्कीम,  
जयपुर-302015(राज.)  
मो. 9887442103

## अनिरुद्ध उमट

सात कविताएँ

### एक

जिस शहर कभी गया ही नहीं था  
उससे वापस लौटते मेरे कदम उदास हैं।

मैं लौटने में हर घर की दहलीज पर रह गया हूँ।  
हर घर तुम्हारा घर है, हर पेड़, हर राह, हर मोड़, सब तुम्हारे घर से है।  
एक घर मुझ में है जिसमें से मुझे जाना पड़ रहा है।

तुम्हें कहीं देखा नहीं मगर हर चीज़ तुमसे है।  
पता नहीं किस दरवाजे के पीछे तुम हो और मेरे जाने को सफेद खामोशी में देख रहे हो।  
इस शहर में मैं इस कदर रह गया हूँ कि तुम किसी और शहर में नहीं रह सकोगे।  
मेरे लौटने की मुद्रा तुम्हारी नींद में एक गीली खामोश हिचकी है।

तुम्हारे शहर को जिसे मैंने कभी खूब निहारा था वह दर्पण में बाल की तरह मेरे मन पर हिलता है।

दो.

रेल जब चली थी बीकानेर से तब भी इंदौर ही था  
रेल जब किसी भी स्टेशन पर रुकती  
तब भी इंदौर ही होता  
रेल जब पानी पीने जाती या इधर से उधर करवट बदलती तब भी इंदौर ही होता था  
कई स्टेशन निरीह ऐसे भी आए  
जहाँ रेल बहुत बेगानी-सी मुँह ऊँचा किये  
धड़धड़ करती गुजर गई वह स्टेशन भी इंदौर ही था । उस रेल का रंग पोहे जैसा ।  
हम हर उस स्टेशन पर बैठे हैं  
हर उस रेल में बैठे हैं ।  
इस दिगंत से दिगंत की यात्रा में  
हम ख्याल रखते हैं कि अरे, इंदौर आ गया यह कहते कहीं सपने में दौड़ती रेल से उतर न जाएं  
या हकबका कर चैन न खींच लें ।  
खिड़की-खिड़की जंगल चाँद तारे नदियाँ पर्वत समंदर उचक उचक देखते हैं ।

अभी एक बेंच प्लेटफॉर्म पर दिखनी है जहाँ सकोरे में रखी चाय से भाप उठ रही होगी ।

## तीन

खाली है अभी रेल  
मगर पटरियाँ भीग रही हैं  
सपने भीग रहे हैं  
तारे भी

कौन है जो भीगे बिना भीगा है

## चार

पानी में गहरा तनाव है  
तनाव की गाँठ में  
प्यास

प्यास में गहरा तनाव है  
तनाव की गाँठ में  
तृप्ति

तृप्ति में गहरा तनाव है  
तनाव की गाँठ में  
सपना

सोने में गहरा तनाव है  
तनाव की गाँठ में  
नींद

नींद में गहरा तनाव है  
तनाव की गाँठ में  
छल-छल  
छल  
छल-छल

## पाँच

उसके लिए धरती की सबसे नरम निर्मल माटी ली  
उसके लिए मेरे मन के झरने का जल उतरा  
हर साँस मैंने माटी को गिलोया

नेह के पल जब वह  
प्रस्तुता उतरी  
प्यार के धनुष की तरह  
सेज पर बिछी

उसकी पीठ पर  
शहदीले हाथों रोम-रोम को जगाते

एन उसकी साँसों की आवाजाही बीच  
पीठ पर चुम्बन का खरगोश उतरा

उसकी सिहरती देह के ताप पर  
भीगी कोमल माटी के लेप से  
स्पर्श  
स्पर्श

पीठ आकाशगंगा  
जिस में मैं उतर  
नहा रहा



## छह

किस तरह रेखा दम तोड़ती है  
किस तरह  
साँसों में मद्धम लकीर

बुझता दीप  
सूखते आँसू  
दम तोड़ता हृदय

किस तरह  
आधी रात गए  
एक यंत्र अपने भीतर  
तुम्हारी मृत्यु का माप लेता है

उफनती रेखा अचानक  
दम तोड़ती  
शव-सी बिछ जाती

‘इन्हें ले जाइए  
आपने बहुत विलम्ब किया  
इन्हें लाने में’

किस तरह  
किस तरह

## सात

मगध सुनो बहरे हो अँधे हो तो निहाल रहो  
कौशल में विचारों के केशों को जलाया जा रहा है

रसातल

सुनो द्रौपदी  
ऐसा परिहास न देखा

चिताओं पर निर्लज्ज पताकाएँ

सम्पर्क : माजीसा की बाड़ी,  
गवर्नमेन्ट प्रेस के सामने,  
बीकानेर-334001  
मो. 9251413060



## प्रभात पाँच कविताएँ

### इस संसार में

फूलों का समय ही  
सबसे सुंदर समय है  
सरसों के जीवन में

आगे तो पकने और  
तेल निकलने का समय है

तेल कीमती है  
फिर भी तितली  
फूल को ही चाहती है

सरसों के फूल की तो  
कोई कीमत नहीं संसार में

## पागल

तीन पागल एक खण्डहर में  
खाना बना रहे थे

एक को घर की सत्ता ने पागल किया था  
दूसरे को गाँव की सत्ता ने  
तीसरे को देश की सत्ता ने

सत्ताओं के दमन से कुचले हुए सिर लिए  
तीनों पागल  
खण्डहर की शांति को सराह रहे थे  
जो कि एक सराहने योग्य बात थी  
वे अपने खाना बनाने के कर्म को सराह रहे थे  
जो कि एक सराहने योग्य बात थी  
वे मिलजुल कर रहने खाने को सराह रहे थे  
जो कि एक सराहने योग्य बात थी

ऐसी शांति  
कर्म का ऐसा सुख  
जीवन में ऐसा सौहार्द  
किसी सत्ताधीश के पास नहीं था

सभी सत्ताधीशों का जीवन  
इसी गिनती में जाया हो रहा था कि  
उनके पास कितने आधुनिक हथियार हैं  
वे कितनी दूरी तक

कितनी संख्या में लोगों को मार सकते हैं  
उन्होंने सभी चुनौतियों को मिटाते हुए  
कितनी जमीनों पर कब्जा कर लिया है  
उन्होंने एक रात के खाने रहने और पीने पर  
कितना धन बहाने की क्षमता हासिल कर ली है

पागल चिड़ियों की आवाज़ निकालते थे  
सितारों के नीचे बहती हवाओं में डोलते थे  
बारिशों में नग्न खड़े हो जाते थे पृथ्वी पर  
उन्हें परमवीर चक्र की जरूरत नहीं थी  
उन्होंने आसमानी विमानों की निरर्थकता भाँप ली थी  
वे घास फूलों की तरह शाश्वत थे  
अमर होने की कामना का वे क्या करते ?

## मूर्ति

केशों को कंधों पर फैलाए  
धूप में स्तन उघाड़े क्यों बैठी है  
सामने के नीम में बैठे पक्षियों को देखती  
क्या देखती है उनमें कि वे उड़ सकते हैं  
या यह कि कैसे बने हैं जोड़े उनके  
कि कैसे एक तोता दूसरे तोते को नहीं पीटता  
एक चिड़िया दूसरी चिड़िया का घोंसला नष्ट नहीं करती  
एक गिलहरी किसी के भी हिस्से की मूँगफली  
नहीं खाती  
कि लूटपाट छीना-झपटी सब मनुष्यों में ही क्यों है ?

सामने के पशुबाड़े पर क्यों लगा रखी है टकटकी  
क्या देखती है उनमें  
कि कैसी भी कमी क्यों न आए चारे की  
एक बैल बछड़े को सींग मारकर  
बाड़े से बाहर नहीं करता  
एक भैंस अपनी बेटी भैंस को किसी को नहीं बेचती  
एक भेड़ा किसी बकरी के साथ मुँह काला नहीं करता  
एक ऊँट दूसरे ऊँट का गला नहीं रेतता  
कि हिंसा, क्रूरता, जघन्यताएँ सब मनुष्यों में ही क्यों हैं ?

क्या देखती है विलीन कर लेने वाले आकाश में  
किसने काला किया है गोरा मुख तेरा  
मुँह काला किया है किसने तुझसे  
रात भर लटकाए रखा है खूँटी से मुँह में चिथड़े भरकर  
सोने की बाली के प्रलोभन को मारी है तूने ठोकर

क्या सोचती है सामने के पहाड़ पर देवी का मंदिर देखकर  
पत्थरों में बदला जाता रहा है स्त्रियों को  
उनसे यौवन छीनकर  
मंदिर बनाए जाते रहे हैं उनके  
पूजा जाता रहा है उन्हें सती कहकर

झुण्ड के झुण्ड लोग निकलते हैं सड़कों पर  
यही करने के लिए साफे बाँधकर नंगी तलवारें लेकर

होती करती बात को क्यों इतना तूल देती है  
किसलिए खामोश बैठी है  
बोलेगी नहीं, सुनेगी नहीं  
कहना नहीं मानेगी, काम नहीं करेगी  
कोई तुझसे भी बोलेगा नहीं, तेरी सुनेगा नहीं  
वह चरवाहा भी कहना नहीं मानेगा तेरा  
जिसने किया है तेरा संदेश पहुँचाने का काम

सितारों भरी रातें आईं और गईं  
फुहारों भरी बारिशें आईं और गईं  
कोहरे भरे दिन आए और गए  
रेत भरी आँधियाँ आईं और गईं

अटारी खण्डहर में बदल गई  
लाल लँहे वाली युवती  
मूर्ति में बदल गई  
कोई नाक तोड़ जाता है मूर्ति की  
कोई कान मरोड़ जाता है  
कोई गाल भींच जाता है  
कोई टखना तोड़ देता है  
कोई ऐड़ी  
कोई फोटो खींचता है  
कोई लिखता है डायरी

खण्डहर के सन्नाटे में  
जब तब गूँजती है हवाएँ  
केशों को कंधों पर फैलाए  
धूप में स्तन उघाड़े क्यों बैठी है  
कब से हाथ बढ़ा रहा हूँ मैं  
चलकर आती क्यों नहीं है ?

## आत्महत्या

धड़धड़ाती रेलों के पहियों तले  
बिछ जाने की वजहें समाप्त नहीं होंगी मगर  
मैंने ये समझने की कोशिश की  
रेलें यात्रा के लिए हैं  
चार हाथ की रस्सी चारा बाँधने के लिए है  
दुर्भिक्ष तो सरोवर पर भी है  
वह भी प्रतीक्षा करता है धीरे-धीरे सिमटने की

भूखों, निर्दोष कैदियों और स्त्रियों से  
जीने की तालीम लेनी चाहिए  
साँस की तरह चल रही हों  
मरने की वजहें शरीर में, तो  
पागलपन का आश्रय लेना चाहिए

पागलों में होती है यह बुद्धिमत्ता  
खाना कपड़ा रहना न मिले  
सारा जगत् ही उपेक्षा करे  
तब भी जीवन तो है  
उसे बचाया जाना चाहिए  
जीवन को बचाने की योजना तो वह योजना है  
जो बड़े-बड़े कार्पोरेट घरानों और बहुमत से बनी  
बुद्धिजीवियों से भरी सरकारों के पास भी नहीं है

## आओ जरूरी दर्द

आओ जरूरी दर्द  
मेरे सिर में रहो  
इतनी रात गए  
किसके पास जाओगे

जिनके पास जा सकते थे  
लोग वे अधिक खाकर अलसा गए हैं  
गिर गए हैं मुलायम बिस्तारों पर अधिक पीकर

बुरी खबरो  
लोगों ने एसी ऑन कर परदे लगा लिए हैं  
यहीं बैठ जाओ मेरी टेबिल पर  
क्या करोगी उलझन में डालकर बेतहाशा हँसते हुआओं को  
विज्ञापनों के सहारे जी रहे लोग निर्दोष और निरीह हैं

पलकों के ऊपर किसकी आँख की हड्डी में  
रहोगी असहनीय पीड़ा  
किस किसान को करोगे पसीने से सराबोर दुःस्वप्न  
स्त्रियाँ ही क्यों करें उल्टियाँ दिन रात  
मुझे ही आओ विषैली उबकाई  
मेरी मटकी है अभी आधी भरी

मेरे अखबार पढ़ते-पढ़ते ही बनी हैं  
कार्पोरेट हितकारी नीतियाँ  
मेरे हस्ताक्षर लेकर ही उजाड़ी गई हैं  
आदिवासी बस्तियाँ  
मैंने ही माना है कि  
चिथड़े पहने जंगलों में खाना ढूँढ़ती औरतें नक्सली हैं  
खदानें ढूँढ़ते लोग विकासशील हैं  
वे जो कर रहे हैं इस देश के लिए ही तो कर रहे हैं  
देश से प्रेम न होता तो  
क्यों करते वे शिक्षा और स्वास्थ्य के काम  
वे सरकार के काम में हाथ बँटा रहे हैं  
सरकार उनके काम में मदद के लिए सेना भेज रही है  
पीड़ितों को ठिकाने लगाने

छियालीस का हो गया हूँ मैं ओ मौत  
राजकीय अस्पताल से अपहृत स्त्रियाँ,  
युवा और बच्चे ही क्यों आएँ  
नाले के पास उगी खरपतवार में बँधकर

सम्पर्क :

205, जनकपुरी, ईदगाह के पास,  
नीमली रोड, आलनपुर,  
सवाईमाधोपुर-322001(राज.)  
मो.6378011806

## नीतेश व्यास

चार कविताएँ

### मार्कण्डेय

क्या तुम हुए थे  
व्याकुल  
जब प्रलयावर्तक प्रचण्ड  
सप्त आदित्यों ने  
शोष लिया था जल समग्र पृथिवी का  
और  
घनघोर मेघमाला ने  
लील लिया था  
पृथिवी को

हे मृकण्ड सुन !  
तुम एकाकी तैर रहे थे  
एकार्णव में  
क्या हुआ था तुम्हें भय ?

तुमने देखा वृक्ष  
महावट का  
जिसकी चौड़ी भुजा तुल्य  
शाखा पर  
था सुन्दर पलंग  
लेटा था, उस पर  
श्रीवत्सांकित,  
अलसी के फूलों की भाँति श्यामवर्ण  
बालक  
लीलामानुषविग्रह बन

तब त्रिकालज्ञता खो गयी थी  
तुम्हारी  
शायद कहीं  
तुम्हें आश्चर्य था  
कि भय  
या थकावट

अनायास ही तुम  
प्रविष्ट हुए थे  
उस बाल के मुख विवर में

भीतर तुमने देखी  
वही सृष्टि  
समग्र  
तुम भीतर ही थे  
'भी' से 'तर' गये थे तुम

जो भी 'तर' हो गया  
वह मुक्त हो गया  
भय से  
स्वयं से  
समय से

## आदि-अनादि

कौन कहता है प्रलय होता है मन्वन्तरान्त में  
कहता हूँ मैं  
वह हो रहा इसी क्षण में

पूरक श्वास ही तो है आरम्भ सृष्टि का  
रेचक श्वास में घटित प्रलय प्रतिपल  
कुम्भक ही है सकल सृष्टि विस्तार निरन्तर

जिया है जीवन ने कितने ही प्रलयों को  
कितने ही मन्वन्तर मैंने काटे हैं  
पर जो मनु है वह तो उत् आसीन है  
हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर  
नहीं व्यापता प्रलय वहाँ नहीं सृष्टि है  
बिन्दु चरम वह, वहीं सनातन दृष्टि है  
वाणी-मन-बुद्धि हाँप गये  
प्राणों के अन्तर काँप गये  
वो हाँप गये  
और हाँप के जब वह कुछ पल को  
अन्दर ठहरे  
भीतर और भी उतरे गहरे  
तो गह्वर में उस अक्षर के  
देखे प्रकाश उर अन्तर के  
वो मनु जो दिखता था उत्तुंग

वो जन्मों से था मेरे संग  
और था मुझमें  
मुझ से भी निकट

उस नित असंग के  
संग में रहकर  
होकर विस्मित देखा  
नहीं थी सृष्टि नहीं था प्रलय  
बस एक सनातन लय

## कितने रंग बिखरे तुमने

कितने रंग बिखरे तुमने  
रूप के  
कविताओं में अपनी  
दूर छाँव में बैठ के  
धूप पे कविताएँ लिखने  
का अजब यह  
हुनर है पाया  
तुमने कहाँ से ?



## अन्धेरा था

### वह मर गया

वह 'मर गया'

जब ये सुना तो नहीं हुआ कोई अचरज  
क्या वो ज़िन्दा था ?

गन्ध बचपन की नहीं रही उसकी मिट्टी में  
क्या पिया था उसने यौवन का रस कभी  
स्वयं के स्पर्श से शून्य थी उसकी त्वचा  
हवा के कब था उसका रिश्ता  
क्या सूर्य के तेज में  
कभी दिखा था उसे स्वयं का चेहरा  
शब्द तो कई सुने  
पर आकाश का शब्द  
नहीं घुला था उसके कानों में  
सूख गयी थी उसकी तरलता  
फिर भी कहना कि वो मर गया  
'क्या मैं ज़िन्दा हूँ?'

अन्धेरा था  
और उन्हें  
बाँटे जा रहे थे शरीर  
आगे की यात्राओं हेतु  
उनमें से  
किसी ने  
चुरा ली मेरी देह

सम्पर्क : गज्जों की गली, पूरा मौहल्ला,  
कबूतरों का चौक, जोधपुर-342001  
मो.-9829831299



## समन्दर का बुलावा

शीन काफ़ निज़ाम

मीराजी- मुहम्मद सना उल्लाह सानी-डार (1912-1949) उर्दू के उन शाइरों में थे जो अपना रिश्ता आर्यव्रत से जोड़ते थे। उन का कहना था कि मेरे पूर्व पूर्वज आर्य नस्ल के थे। उन्हीं की प्रतिमा, प्रकृति और स्मृति मुझ तक पहुँची है। बज़ीर आगा इसीलिए उन की शाइरी को धरती पूजा की मिसाल बताते हैं। कुछ भी, यहाँ तक कि अपने हस्ताक्षर से भी पहले ॐ लिखते थे।

एक बंगाली लड़की मीरासेन से एकतरफ़ा प्यार करने लगे थे। उसे परिवारजन मीराजी कहते थे। इसलिए उन्होंने भी अपना उपनाम मीराजी लिखना प्रारम्भ कर दिया और और इसी नाम से प्रसिद्ध हुए।

यह ज़माना प्रगतिशील आन्दोलन की उठान-उड़ान का था। जिस के नज़दीक साहित्य समाज और सियासत से इबारत था। इसलिए साहित्य को सांस्कृतिक सरोकार और स्व की तलाश में रहने वाले मीराजी को प्रतिक्रियावादी ही कहा जा सकता था। यही मामला नून.मीम.राशिद के साथ था। मीराजी की मृत्यु के बहुत बाद में सरदार जाफ़री आदि ने नई नज़्म ही नहीं बल्कि नज़्म में उनके योगदान और महत्त्व को समझा-सराहा।

मीराजी ही ने सब से पहले छन्द पर आहंग को तर्जिह दी। नज़्म का ड्राफ़्ट ही उस का क्राफ़्ट है। इसलिए नज़्म एक सजग पाठक की प्रतीक्षा करती है। नून.मीम.राशिद जहाँ छन्द को अपने ड्राफ़्ट में बनाये रखने के पक्षधर हैं मीराजी वहाँ आहंग से अर्थ ही अनुभूति कराते हैं। शब्दों के चयन में वे उनके संस्कार

को प्राथमिकता देते हैं। मीराजी ने अपने समकालीन शाइरों की नज़्मों को खोलने में जिल जहानत का सबूत दिया है, वह अपने में एक मिसाल है।

सृजन, संपादन और विवेचन के अलावा मीराजी ने प्राच्य और पाश्चात्य कवियों की कविताओं का उर्दू में अनुवाद भी किया जो *मशरिको-मग़रिब के नग्मे* नाम से प्रकाशित हुआ। पाश्चात्य कवियों में उन्हें बॉदलेयर बहुत प्रिय थे। डिफ़्रीट ऑफ़ दी बॉदलेयर नामक मृत्यु-शैया पर भी उन के पास थी। उर्दू पाठकों को बंगाली के चण्डीदास, मैथिली के विद्यापति और अमारो का प्रामाणिक परिचय सब से पहले मीराजी ही से प्राप्त हुआ।

फ़िराक़ साहिब पर लिखते हुए स्व. प्रो.रसीद अहमद सिद्दिकी ने लिखा था *फ़िराक़ के ज़हन और ज़ौक को समझने के लिए हम को उन रास्तों से किसी क्रदर हट कर सोचना पड़ेगा जो हम ने अभी तक इख़्तियार कर रखे हैं। ठीक यही बात मीराजी के बारे में भी कही जा सकती है। हट कर सोचना-करना जान जोखम का काम है। इसलिए मीराजी पहचाने तो गये, उस तरह स्वीकार नहीं किये गये। हमीद नसीम के शब्दों में इसका कारण यह है कि मीराजी की हिन्दी पौराणिक संदर्भों वाली काव्य-शैली उर्दू बोलने वाली बहुसंख्या के ईथॉस से मेल नहीं खाती।* मेल खाये न खाये आज की उर्दू नज़्म पर, मीराजी का जो प्रभाव है वह इस बात का प्रमाण है कि रवैये को रुज़्हान और रुज़्हान को रिवायत बनने में सौ साल तो लग ही जाते हैं।

ये सरगोशियां' कह रही हैं अब आओ कि बरसों से तुम को  
बुलाते-बुलाते मिरे दिल पे गहरी थकन छा रही है  
कहीं एक पल को, कभी एक अर्सा सदायें सुनी हैं,  
मगर ये अनोखी सदा आ रही है  
बुलाते-बुलाते तो कोई न अब तक थका है  
न आइन्दा शायद थकेगा  
मिरे प्यारे बच्चे 'मुझे तुम से मुहब्बत है, देखो अगर यूं किया तो बुरा मुझ से  
बढ़ कर न कोई भी होगा' खुदा या खुदा या!

कभी एक सिसकी, कभी इक तबस्सुम<sup>2</sup>, कभी सिर्फ़ त्योंरी  
मगर ये सदायें तो आती रही हैं  
इन्हीं से हयाते-दोराज्जा<sup>3</sup> अबद से मिली है  
मगर ये अनोखी सदा जिस पे गहरी थकन छा रही है  
ये हर इक सदा को मिटाने की धमकी दिये जा रही है

अब आँखों में जुंबिश, न चेहरे पे कोई तबस्सुम, न त्योंरी  
फ़क़त कान सुनते चले जा रहे हैं  
ये इक गुलिसतां है, हवा लहलहाती है, कलियाँ चटकती हैं, गुंचे महकते हैं  
और फूल खिलते हैं, खिल-खिल के मुझाँ के गिरते हैं, इक फ़र्शें-मखमल  
बनाते हैं जिस पे मिरी आरजुओं की परियाँ अजब आन से यूं रवां हैं  
कि जैसे गुलिस्तां भी इक आईना है  
इसी आईने में हरिक शकल निखरी, सँवर कर मिटी और मिट ही गयी फिर न उभरी  
ये परबत है ख़ामोश, साकिन  
कभी कोई चश्मा उबलते हुए पूछता है कि इस की चट्टानों के उस पार क्या है  
मगर मुझ को परबत का दामन ही काफ़ी है....दामन में वादी है  
वादी में नद्दी है, नद्दी में बहती हुई नाव ही आईना है

इसी आईने में हरिक शकल निखरी, मगर एक पल में जो मिटने लगी है  
तो वो फिर न उभरी

ये सहरा है..... फैला हुआ खुशक, बेबर्ग सहरा<sup>1</sup>  
बगोले यहाँ तुंद भूतों का अक्से-मुजस्सम<sup>2</sup> बने हैं  
मगर मैं तो दूर.... एक पेड़ों के झुरमुट पे अपनी निगाहें जमाये हुए हूँ  
न अब कोई सहरा, न परबत, न कोई गुलिस्तां  
अब आँखों में जुंबिश, न चेहरे पे कोई तबस्सुम, न त्यौरी  
फ़क़त इक अनोखी सदा कह रही है कि तुम को बुलाते-बुलाते मिरे दिल पे  
गहरी थकन छा रही है

बुलाते-बुलाते तो कोई न अब तक थका है, न शायद थकेगा  
तो फिर ये निदा आईना है..... फ़क़त मैं थका हूँ किसी को बुलाते-बुलाते

न सहरा न परबत, न कोई गुलिस्तां, फ़क़त अब समन्दर बुलाता है मुझको  
कि हर शय समन्दर से आई, समन्दर में जा कर मिलेगी

1. कानाफ़ून्सी
2. हल्की हँसी
3. दो दिन का जीवन
4. बिना पत्ती का
5. मूर्त-प्रतिबिम्ब

## यगानिगत<sup>1</sup>

जमाने में कोई बुराई नहीं है  
फ़क़त इक तसल्लसुल<sup>2</sup> का झूला रवां है  
ये मैं कह रहा हूँ :  
मैं कोई बुराई नहीं हूँ, जमाना नहीं हूँ, तसल्लसुल का झूला नहीं हूँ  
मुझे क्या ख़बर क्या बुराई में है, क्या जमाने में है और फिर मैं तो ये भी कहूँगा  
कि जो शै<sup>3</sup> अकेली रहे उस की मंज़िल फ़ना ही फ़ना<sup>4</sup> है  
बुराई, भलाई, जमाना, तसल्लसुल....ये बातें बक्रा<sup>5</sup> के घराने से आई हुई हैं  
मुझे तो किसी भी घराने से कोई तआलुक नहीं है

मैं हूँ एक, और मैं अकेला हूँ, इक अजनबी हूँ  
ये बस्ती, ये जंगल, ये बहते हुए रास्ते और दरिया  
ये परबत, अचानक निगाहों में आई हुई कोई ऊँची इमारत  
ये उजड़े हुए मक़बरे, और ये मर्गे-मुसल्लसल<sup>6</sup> की सूरत मुजाविर<sup>7</sup>  
ये हँसते हुए नन्हे बच्चे, ये गाड़ी से टकरा के मरता हुआ एक अंधा मुसाफ़िर  
हवाएँ, निबातात<sup>8</sup> और आस्मां पर इधर से उधर आते-जाते हुए चंद बादल  
ये क्या है ?  
यही तो जमाना है, ये इक तसल्लसुल<sup>9</sup> का झूला रवां है  
ये मैं कह रहा हूँ  
ये बस्ती, ये जंगल, ये रास्ते, ये दरिया, ये परबत, इमारत, मुजाविर, मुसाफ़िर  
हवाएँ, निबातात और आस्मां पर इधर से उधर आते जाते हुए चंद बादल  
ये सब कुछ, ये हर शै मिरे ही घराने से आई हुई है

जमाना हूँ मैं, मेरे ही दम से अनमिट तसल्लसुल का झूला रवां है  
मगर मुझ में कोई बुराई नहीं है  
ये कैसे कहूँ मैं  
कि मुझ में फ़ना और बक्रा दोनों आकर मिले हैं

1. अकेलापन, 2. निरन्तरता, 3. वस्तु, 4. नश्वरता, 5. अमरत्व,
6. निरन्तर मृत्यु, 7. समाधि-सेवक 8. वनस्पति, 9. निरन्तरता,
10. प्रतिवेशी

## अंजाम

मुझे गिरिया<sup>1</sup> सुनाई दे रहा है  
बहुत ही दूर से आती हुई आवाज़ है जैसे  
कभी लहरों में घुल जाए, कभी आगे निकल आए  
ये इस सूने समय में किस ने गहरा कर दिया दिल की उदासी को ?  
नहीं, ये अक्स कब है, दूर की इक बात है....

ये गिरिया तो नहीं है, एक लम्हा है  
कि जैसे सुबह का सूरज शफ़क़<sup>2</sup> में जा के खो जाए  
अगर सूरज शफ़क़ में जा के खो जाए तो क्या फिर रात भी  
मनमोहिनी होगी ?  
सितारे तो मगर जिन दूरियों से झिलमिलाते हैं  
उदासी को बढ़ाते हैं  
शबे-तारीक तो बस जगमगाते चाँद ही से कुछ निखरती है

कहाँ है चाँद ? अँधेरी रात, मुझ को  
अँधेरी रात में गिरिया सुनाई दे रहा है  
ये गिरिया तो नहीं है, एक मामूली सदा है, वक्रत के आगोश  
में खोया हुआ लम्हा

जमाना एक बेपाया<sup>3</sup> समन्दर है  
और उस में किस क्रदर बेकार आँसू हैं  
और उस में साहिले-अफ़सुर्दा<sup>4</sup> की कुछ सिसकियाँ हैं  
मैं सब कुछ देखता हूँ और फिर हँसता हूँ, रोता हूँ  
ये वो लहरें बढ़ी जाती हैं, उस खोये हुए लम्हे से  
टकराती हैं और फिर लौट जाती हैं

कि जैसे एक हिचकी आये और फिर साँस रुक जाये....  
मैं क्यों खोया हुआ हूँ रात की गहरी उदासी में ?

मुझे गिरिया सुनाई दे रहा है  
यही जी चाहता है पास जा कर भी उसे सुन लूँ  
मगर डर है जब उस के पास पहुँचा मैं तो गिरिया ख़त्म होगा एक गहरी ख़ामुशी होगी

1. आँसू
2. सवेरे या सायंकाल की क्षितिज पर होने वाली लालिमा
3. तटहीन सागर
4. उदास किनारा

## तन्हाई

फ़ज़ा में सुकूँ है

अलमनाक<sup>1</sup>, गहरा, घना, एक इक शै को घेरे हुए, एक

इक शै को अप्सुर्दगी<sup>2</sup> से मिटाता हुआ बेअमां<sup>3</sup>

बेमहल, नूर से दूर, फैली फ़ज़ा में सुकूँ है

उजाले की हर इक किरन जैसे ठिठकी हुई है

अँधेरे से बढ़ कर अँधेरा

लचकती हुई टहनियों की घनी पत्तियों में हवा सरसराने लगी है

हवा सरसराने लगी है

हवा किसलिए सरसराने लगी है

कहीं दूर.... गोले-बयाबां<sup>4</sup> की, दिल को मसलती हुई चीख़ जागी

कहीं दूर गोले-बयाबां...

कहीं दूर....

कहीं दूर क्या है?.... सुकूँ है

कहीं दूर कुछ भी नहीं है, सुकूँ है

कहीं दूर कुछ भी नहीं है

कहीं दूर कुछ भी नहीं है ?

कहीं दूर कुछ भी नहीं है तो फिर कैसे गोले-बयाबां की, दिल को

मसलती हुई चीख़ जागी

फ़सुर्दा<sup>5</sup>-सी कुछ हड्डियाँ हैं, फ़सुर्दा-सी खाकस्तरे-बेज़बां<sup>6</sup> है

फ़सुर्दा से कंकर, फ़सुर्दा फ़ज़ा में सुकूँ है

यहाँ कोई गोले-बयाबां नहीं है

लचकती हुई टहनियों की घनी पत्तियों में घना और गहरा सुकूँ है

कहीं दूर....

कहीं दूर गोले-बयाबां....

कहीं दूर गोले-बयाबां की दिल को मसलती हुई चीख़ जागी

‘ये कैसा फ़सूँ है?’

‘सुकूँ है?’ ‘सुकूँ है?’

सुकूँ दूर हो जाए, हंगामा पैदा हो, हंगामा शोरे-मुजस्सम<sup>7</sup> बने

सामने आये, पल में सुकूँ दूर हो जाये लेकिन

मिरे दिल के गहरे सुकूँ में हवा सरसराने लगी है

1. दुख बढ़ाने वाला, 2. उदासी, 3. अशान्त, 4. घना गहरा जंगल,

5.मलिन, 6. बेज़बान राख, 6. मूर्त रूप में शोर

## यानी....

मैं सोचता हूँ इक नज़्म लिखूं  
लेकिन उस में क्या बात कहूँ  
इक बात में भी सौ बातें हैं  
कहीं जीतें हैं, कहीं मातें हैं  
दिल कहता है मैं सुनता हूँ  
मन माने फूल यूं चुनता हूँ  
जब मात हो मुझ को चुप न रहूँ  
और जीत जो हो दर्दा' न कहूँ  
पल के पल में इक नज़्म लिखूं  
लेकिन उस में क्या बात कहूँ  
जब यूं उलझन बढ़ जाती है  
तब ध्यान की देवी आती है  
अक्सर तो वो चुप ही रहती है  
कहती है तो इतना कहती है  
क्यूं सोचते हो इक नज़्म लिखो  
क्यूं अपने दिल की बात कहो  
बेहतर तो यही है चुप ही रहो  
लेकिन फिर सोच ये आती है  
जब नददी बहती जाती है  
और अपनी अनंत कहानी में  
यूं बेध्यानी में, रवानी में  
माना हर मोड़ पे मुड़ती है  
पर जी की कह के गुज़रती है  
सर पर आई सह जाती है  
और मन आई कह जाती है  
धरती के सीने पे चढ़ती है  
और आगे ही आगे बढ़ती है  
यूं मैं भी दिल की बात कहूँ  
जी में आये तो नज़्म लिखूं  
चाहे इक बात में सौ बातें  
जीतें ले आयें या मातें  
चाहे कोई बात बने न बने  
चाहे सुख हों या दुख अपने



## जातरी

एक आया गया दूसरा आयेगा देर से देखता हूँ यूं ही रात इस की गुज़र जायेगी मैं खड़ा हूँ यहाँ किसलिए मुझ को क्या काम है याद आता नहीं याद भी टिमटिमाता हुआ इक दिया बन गई जिस की रुकती हुई और झिझकती हुई हर किरन बेसदा क्रहक्रहा है मगर मेरे कानों ने कैसे उसे सुन लिया। एक आँधी चली, चल के मिट भी गई आज तक मेरे कानों में मौजूद है सांय-सांय मचलती हुई और उबलती हुई फैलती-फैलती.... देर से मैं खड़ा हूँ यहाँ एक आया गया दूसरा आयेगा रात उस की गुज़र जायेगी एक हंगामा बरपा है देखें जिधर, आ रहे हैं कई लोग चलते हुए और टहलते हुए और रुकते हुए फिर से बढ़ते हुए और लपकते हुए आ रहे जा रहे हैं इधर से उधर और उधर से इधर जैसे दिल में मिरे ध्यान की लहर से एक तूफान है वेसे आँखें मिरी देखती ही चली जा रही हैं कि इक टिमटिमाते दिये की किरन जिन्दगी को फिसलते हुए और गिरते हुए ढब से जाहिर किये जा रही है मुझे ध्यान आता है अब तीरगी इक उजाला बनी है मगर इस उजाले से रिसती चली जा रही हैं वो अमृत की बूँदें जिन्हें मैं हथेली पे अपने संभाले रहा हूँ हथेली मगर टिमटिमाता हुआ इक दिया बन गई है लपक से उजाला हुआ लौ गिरी फिर अँधेरा-सा छाने लगा बैठता बैठता बैठ कर एक ही पल में उठता हुआ जैसे आँधी के तीखे थपेड़ों से दरवाज़े के ताक़ खुलते रहें बंद होते रहें फड़फड़ाते हुए ताइरे-ज़ख्मखुर्दा<sup>1</sup> की मानिंद मैं देखता ही रहा एक आया गया दूसरा आयेगा सोच आई मुझे पाँव बढ़ने से इंकार करते गये मैं खड़ा ही रहा दिल में इक बूँद ने ये कहा रात यूं ही गुज़र जायेगी दिल की इक बूँद को आँख में ले के मैं देखता ही रहा फड़फड़ाते हुए ताइरे-ज़ख्मखुर्दा की मानिंद दरवाज़े के ताक़ एक बार जब मिल गये मुझ को आहिस्ता आहिस्ता अहसास होने लगा अब ये ज़ख्मी परिंदा न तड़पेगा लेकिन मेरे दिल को हर वक़्त तड़पायेगा मैं हथेली पे अपनी संभाले रहूँगा वो अमृत की बूँदें जिन्हें आँख से मेरी रिसना था लेकिन मिरी जिन्दगी टिमटिमाता हुआ इक दिया बन गई जिस की रुकती हुई और झिझकती हुई हर किरन बेसदा क्रहक्रहा है कि इस तीरगी में कोई बात ऐसी नहीं जिस को पहले अँधेरे में देखा हो मैंने सफ़र ये उजाले अँधेरे का चलता रहा है तो चलता रहेगा यही रस्म है राह की एक आया गया दूसरा आयेगा रात ऐसे गुज़र जायेगी टिमटिमाते सितारे बताते थे रस्ते की नद्दी बही जा रही है बहे जा इस उलझन से ऐसे निकल जा कोई सीधा मंज़िल पे जाता था लेकिन कई क्राफ़िले भूल जाते थे अंजुम के दौर यगान<sup>2</sup> के मुबहिम<sup>3</sup> इशारे मगर वो भी चलते हुए और बढ़ते हुए शाम से पहले ही देख लेते थे मक़सूद का बंद दरवाज़ा खुलने लगा है मगर मैं खड़ा हूँ यहाँ मुझ को क्या काम है मेरा दरवाज़ा खुलता नहीं है मुझे फैले सहारा की सोई हुई रेग का ज़रा ज़रा यही कह रहा है कि ऐसे ख़राबे में सूखी हथेली है इक ऐसा तलवा कि जिस को किसी ख़ार की नोक चुभने पे भी कह नहीं सकती मुझ को कोई बूँद अपने लहू की पिला दो मगर मैं खड़ा हूँ यहाँ किसलिये काम कोई नहीं है तो मैं भी इन आते हुए और जाते हुए एक दो तीन....लाखों बगोलों में मिल कर यूं ही चलते चलते कहीं डूब जाता कि जैसे यहाँ बहती लहरों में कश्ती हर इक मौज को थाम लेती है अपनी हथेली के फैले कंवल में मुझे ध्यान आता नहीं है कि इस राह में तो हर इक जाने वाले के बस में है मंज़िल में चल दूँ चलूँ आईये आईये आप क्यूँ इस जगह ऐसे चुपचाप तन्हा खड़े

हैं अगर आप कहिये तो हम इक अछूती से टहनी से दो फूल बस बस मुझे इस की कोई ज़रूरत नहीं है मैं इक दोस्त का रास्ता देखता हूँ मगर वो चला ही गया है मुझे फिर भी तस्कीन आती नहीं है कि मैं एक सह्रा का बाशिंदा मालूम होने लगा हूँ खुद अपनी नज़र में मुझे अब कोई बंद दरवाज़ा खुलता नज़र आये ये बात मुम्किन नहीं है मैं इक और आंधी का मुशताक़ हूँ जो मुझे अपने पर्दे में यकसर छुपा ले मुझे अब ये महसूस होने लगा है सुहाना समां जितना बस में था मेरे वो सब एक बहता सा झोंका नया है जिसे हाथ मेरे नहीं रोक सकते कि मेरी हथेली में अमृत की बूंदें तो बाक़ी नहीं हैं फ़क़त एक फैला हुआ ख़ुशक बेबर्ग<sup>4</sup> सह्रा है जिस में ये मुम्किन नहीं मैं क्यूं... एक आया गया दूसरा आयेगा रात मेरी गुज़र जायेगी।

1. घायल पक्षी, 2. एकाकी, 3. अस्पष्ट, 4. बिना पत्तों का

सम्पर्क : कल्लों की गली,  
कबूतरों का चौक, जोधपुर-342001  
मो.-9414136313



## प्रकाश मनु : आलोकित चिंतन

नितिन सेठी

किसी भी विधा में जब प्रचुर मात्रा में सृजन होता है, तब उसके सृजनात्मक पक्ष के साथ-साथ आलोचनात्मक पक्ष पर भी दृष्टि जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। समालोचना के पाश में सृजन व्यवस्थित और नियमबद्ध रहता है। सृजन-समालोचना के साथ ही एक तीसरा पक्ष भी है, जिसकी महत्ता इन दोनों से कमतर नहीं आँकी जा सकती। वह पक्ष है ऐतिहासिक पक्ष। किसी भी भाषा के साहित्य को सृजन-समालोचना-इतिहास, ये तीनों मिलकर एक ऐसा दर्पण प्रदान करते हैं जिसमें साहित्य अपने वर्तमान सृजन को देखता हुआ, अतीत के इतिहास से साम्य स्थापित करता हुआ, समालोचना की सहायता से उज्वल भविष्य की राहें निर्धारित करता है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य समालोचना और इतिहास ग्रंथ इसका ज्वलंत प्रमाण है। हिन्दी भाषा के लिए भी उपरोक्त कथन पूर्णतया सत्य है।

इसी क्रम में आता है हिन्दी भाषा का बाल साहित्य। हिन्दी के बाल साहित्य के इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाए, तो इस दिशा में अनेक सार्थक प्रयास हमें दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम निरंकार देव सेवक का ग्रंथ *बालगीत साहित्य* किताबमहल प्रकाशन से सन् 1966 में प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक लगभग पचास से अधिक ग्रंथ इस दिशा में अग्रगामी रहे हैं। हालाँकि इनमें

से अधिकांश ग्रंथ किसी एक विधा विशेष को लेकर ही रचे गये हैं। विषय का एकांगी विवेचन इनकी सीमाओं को निर्धारित कर देता है। हिन्दी के बाल साहित्य के लिए यह नितांत गौरव की ही बात मानी जानी चाहिए कि प्रख्यात बाल साहित्यकार प्रकाश मनु द्वारा रचित हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली से वर्ष 2018 में प्रकाशित हो चुका है। प्रकाश मनु हिन्दी साहित्य का एक जाना माना नाम हैं। प्रौढ़ साहित्य और बाल साहित्य- दोनों में ही आपकी उज्जाग्रत प्रतिभा का लोहा पाठकों ने माना है। बच्चों के लिए तो आपकी कलम से अनेक सुंदर-सुंदर कहानियाँ, कविताएँ, नाटक, उपन्यास आदि प्रकाशित हो चुके हैं। इसी क्रम में आपके अनेक विचारोत्तेजक लेख भी बाल साहित्य के चिंतन और सृजन को पर्याप्त मात्रा में समृद्ध करते रहे हैं।

**आज के वैज्ञानिक युग में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की आवश्यकता बलवती हो उठी है। केवल परम्परागत बातों और परी-जिनों की कथाओं से बच्चों का आज की बदलती दुनिया में सम्यक् विकास नहीं हो सकता।**

प्रकाश मनु ने प्रस्तुत कृति *हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास* लिखने से पूर्व भी एक इतिहास की पुस्तक लिखी है- *हिन्दी बाल कविता का इतिहास*। वर्ष 2003 में प्रकाशित यह पुस्तक कुल 387 पृष्ठों में हिन्दी बाल कविता का विस्तृत और व्यापक लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। अपने आप में यह पहला और अनूठा प्रयास ही माना जाता है। उसी अनूठे प्रयास को प्रकाश मनु ने और अधिक शक्ति-भक्ति-युक्ति की त्रिवेणी में डुबकी

लगाकर, हिमालय से ऊँचे-उज्वल पवित्र बाल साहित्य को और उसके विस्तृत इतिहास को, सामान्य पाठकों तक ले जाने का सफलतम भगीरथ प्रयास किया है। *हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास* में प्रकाश मनु आठ अध्यायों के अन्तर्गत अपनी इतिहास दृष्टि स्पष्ट करते हैं। बाल साहित्य का काल विभाजन करते समय अनेक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। प्रकाश मनु हिन्दी बाल साहित्य को कुल तीन कालखंडों में विभाजित करते हैं। प्रारंभिक युग, गौरव युग, विकास युग की विभिन्न विकास धाराओं को विस्तार देते हुए लेखक ने इनकी युगीन विशेषताओं का सविस्तार वर्णन किया है।

बाल कविता की विकास-यात्रा में प्रकाश मनु अनेक बाल कवियों की कविताओं की बानगी प्रस्तुत करते हैं। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं, *हिन्दी बाल कविता की सबसे बड़ी शक्ति उसकी मौलिकता है और इस लिहाज से वह हिन्दी बाल कहानियों, उपन्यासों तथा बच्चों के लिए लिखे गये विज्ञान लेखन आदि को मीलों पीछे छोड़ देती है। हिन्दी बाल कविता अपने जन्म के प्रारम्भिक चरण से ही आजाद तबीयत की, स्वच्छंद और आगे की ओर उन्मुख यानी प्रगतिशील मिजाज की थी, जिसमें भारतीय समाज और जीवन की गाढ़ी छायाएँ शुरू से देखी जा सकती हैं।* लगभग चार सौ कवियों की चर्चा, उनके प्रसिद्ध बालगीतों को उदाहरणस्वरूप देना और इन सबका समीक्षात्मक विवेचन करने में प्रकाश मनु ने नितांत सफलता पाई है। बाल कहानी का भी अपना जादू होता है। बच्चों को कहानियाँ सुनना बहुत अच्छा लगता है। कहानी सुनते या पढ़ते समय बच्चे इसके पात्रों में खुद को ढूँढ़ने लगते हैं। तब से अब तक की कहानी में बहुत बदलाव आये हैं। जैकब और विल्हेम ग्रिम बंधुओं ने विश्वभर की लोककथाओं का अनूठा संकलन तैयार किया था। बाल कहानी के स्वरूप और विकास पर प्रकाश मनु खुली दृष्टि से देखते हैं। मनोरंजन, रोचकता, कौतूहल के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धन और शैक्षिक उद्देश्य भी कहानी के मूल

प्रेरक तत्त्व होते हैं। सौभाग्य की बात है कि हिन्दी बाल कहानी इन सभी तत्त्वों को एक साथ लेकर चलती है। पशु-पक्षियों की कहानियाँ, लोककथाएँ, पौराणिक-सांस्कृतिक कहानियाँ, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की कहानियाँ, हिन्दी में अनूदित बाल कहानियाँ, गरीब-कमजोर तबके की कहानियाँ, महिला बाल कथाकारों की कहानियाँ जैसे उपखंड कहानी का इतिहास और विकास जानने-समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकाश मनु का अध्ययन विस्तृत और व्यापक रहता है। इसी क्रम में बाल कहानियों के संग्रह और महत्त्वपूर्ण सम्पादित ग्रंथ, इन सबकी भी एक विस्तृत विवेचना वे करते हैं। स्वयं प्रकाश मनु बहुत अच्छे कथाकार हैं। प्रौढ़ साहित्य के साथ-साथ बाल साहित्य पर उनकी सर्जनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि-दोनों का उचित समन्वय और संतुलन यहाँ दिखाई देता है। एक विचार जो प्रकाश मनु इस संदर्भ में अभिव्यक्त करते हैं, निश्चयतः उल्लेखनीय है, *आज की कहानी में किस्सागोई और भाषा की रवानी तो दादी-नानी की परम्परा वाली हो, पर भाव और संवेदना आधुनिक जीवन और मूल्यों से जुड़ी हुई। आज बाल साहित्य लेखकों को ही दादी-नानी बनकर लिखना होगा।*

कहानी की तरह ही उपन्यास भी कथा साहित्य होता है। इसमें कुछ बड़े फलक पर, अधिक पात्रों के साथ कथासूत्र बुने जाते हैं। बाल साहित्य का सौभाग्य रहा है कि उसे अनेक स्वनामधन्य उपन्यास लेखक प्राप्त होते रहे। प्रकाश मनु उपन्यास को कही-अनकही बातों का खजाना कहते हैं। उपन्यास की विकास यात्रा से लेकर आधुनिक युग तक का व्यापक अध्ययन प्रकाश मनु ने किया है। बाल कविता और बाल कहानी की तरह ही बाल उपन्यास का फलक अनेक रंगों से रंगा गया है। कौतूहल, मनोरंजन, फंतासी, कल्पना, वैज्ञानिकता के साथ-साथ प्रेरणा और शैक्षिक मूल्य जैसे तत्त्व यहाँ अपने पूरे प्रभाव के साथ उपस्थित रहे हैं। परम्परागत उपन्यासों के साथ-साथ आधुनिक विज्ञानबोध को भी बाल उपन्यासकारों ने उचित महत्त्व प्रदान किया है।

हिन्दी में अनूदित बाल उपन्यासों का विवरण प्रकाश मनु ने बड़ी ही गंभीरता और सजगता के साथ दिया है। इतिहास दृष्टि को बालक की दृष्टि तक लेकर आना और फिर इन कृतियों की विवेचना करना, मनु जी का मुख्य लेखकीय गुण है। बाल उपन्यासों की इतनी लम्बी सूची को समग्रता के साथ विश्लेषित करना उनकी ही कर्मठ कलम की करामात है।

कहानी, उपन्यास, गीत-कविता पढ़ने की वस्तु है, जबकि नाटक देखने की वस्तु है। सामाजिक रूप से कई व्यक्तियों के साथ ही इसकी रंगमंचीय प्रस्तुति होती है और इसी रूप में यह देखा भी जाता है। बच्चों को तो नाटक और भी अधिक पसंद आते हैं। आचार्य धनंजय अपने ग्रंथ *दशरूपक* में नाटक को अवस्था की अनुकृति बतलाते हैं- *अवस्थानुकृतिनाटकम्*। बच्चों को भी किसी बात या घटना की नकल को देखना बड़ा अच्छा लगता है। प्रकाश मनु बाल नाटकों को भी तीन चरणों- आरम्भिक युग, गौरव युग, विकास युग के अन्तर्गत रखते हैं। यह देखना भी सुखद है कि बड़े साहित्यकारों ने भी बाल नाटकों की रचना की है। हास्य-व्यंग्य पर आधारित नाटकों पर भी बाल साहित्यकारों का ध्यान गया है। प्रकाश मनु बाल नाटकों के परिप्रेक्ष्य में लिखते हैं, *बाल नाटकों के जरीए बच्चों को नया, खुशहाल समाज बनाने के सपने और नए विचारों को जोड़ने की बहुत अच्छी और सृजनात्मक कोशिशें भी हुई हैं। इनमें बच्चों की दबी हुई क्रिएटिव ऊर्जा को खुलकर सामने आने का मौका मिला। बच्चों के साथ खेल-खेल में लिखे गए ऐसे नाटकों का भी चलन बढ़ा, जिनके संवाद बच्चों द्वारा ही लिखे गए और यहाँ तक कि उनका कथानक भी खुद बच्चों ने ही गढ़ा।*

आज के वैज्ञानिक युग में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की आवश्यकता बलवती हो उठी है। केवल परम्परागत बातों और परी-जिन्नों की कथाओं से बच्चों

का आज की बदलती दुनिया में सम्यक् विकास नहीं हो सकता। दुःख की बात है कि हिन्दी बाल साहित्य में अभी ये तत्त्व पूरी तरह नहीं स्थान प्राप्त कर पाए हैं। प्रकाश मनु अपनी चिन्ता इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, *बच्चों के लिए लिखा गया ज्ञान-विज्ञान साहित्य प्रामाणिक होना चाहिए, दिलचस्प भी और कुछ इस ढंग से लिखा गया हो कि बच्चे के मन में भी नया सोचने और समझने, जानने की इच्छा जाग्रत् हो, ताकि उसकी कल्पना और जिज्ञासा के बंद कपाट खुलने लगे। विदेशी भाषाओं में बच्चों को विज्ञान की जानकारी देने वाली पुस्तकें इतनी खूबसूरत भाषा में और इतने आकर्षक ढंग से छपी जाती हैं कि वे बच्चों को खेल-खिलौनों से कम नहीं लगती। ज्ञान-विज्ञान का संसार विविधता भरा संसार है। नदियों की कहानी से फिल्मों तक, आओ बच्चों खेलें खेल, अनोखी फंतासी से जुड़ी विज्ञान कथाएँ जैसे खंडों में प्रकाश मनु ने बाल साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के समन्वयन को परिलक्षित किया है।*

बाल जीवनी के सम्बन्ध में भी प्रकाश मनु जी महत्त्वपूर्ण विवरण देते हैं। *भारत के गौरव श्रृंखला* की नौ खंडों में प्रकाशित सीरीज अत्यन्त उपयोगी हैं। बाल साहित्य में कहानी-कविता-नाटक पर तो खूब सृजन मिलता है। परन्तु आत्मकथा, संस्मरण, डायरी, पत्र लेखन, यात्रा-निबंध जैसी विधाओं पर कुछ कम ही काम हुआ है। पहेलियों को भी प्रकाश मनु बाल साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा मानते हैं। ज्ञातत्व है कि पहेलियाँ लोक-काव्य का भी महत्त्वपूर्ण अंग रही हैं। बाल पत्र-पत्रिकाओं की विकास यात्रा को मनु जी हिंदी बाल साहित्य में एक अनिवार्य योगदान मानते हैं। वे लिखते हैं, *सच पूछिए तो बाहरी कलेवर में छोटी नजर आती, इन बाल पत्रिकाओं ने बाल साहित्य की सर्वाधिक मूल्यवान् थाती को संभाले रखा, जिससे आगे चलकर बाल साहित्य का इतिहास*

लिखे जाने की नींव पड़ी।

हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास को प्रकाश मनु विधागत रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक विधा के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख ज्ञात-अज्ञात साहित्यकार, उनका सृजन और विशिष्टतायें, यहाँ परिलक्षित की गई हैं। निश्चयतः मनु को अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कठिनाइयों का सामना भी इस दुष्कर कार्य में करना पड़ा है। उन्हीं की कलम से, सच पूछिए तो हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास लिखने में मैं जिस तरह के अनुभवों से गुज़रा, उनके बारे में लिखने बैठूँ, तो वह एक अलग 'इतिहास' बन जायेगा। इस काम को हाथ में लेने के बाद ही जिस तरह की उपेक्षा और व्यंग्यपूर्ण मुस्कानों का सामना करना पड़ा, उनके बारे में तो यह कहे बगैर नहीं रह सकता कि वे जरूर हमारे समाज के एक बीमार समाज होते जाने की निशानी हैं, जहाँ बच्चे की बात करना या बाल साहित्य की बात करना कहीं न कहीं खुद को हीन साबित कर लेना है। वास्तव में उपरोक्त कथन प्रत्येक बाल साहित्यकार के सृजन-मनन-चिंतन को प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य में आज बच्चे नहीं हैं और बच्चों के लिए आज साहित्य नहीं है। विभिन्न वादों-विमर्शों के नाम पर साहित्य को बाँट दिया गया और इसे समाज से, पाठकों से दूर कर दिया गया। बच्चों के नाम पर भी जो कुछ लिखा जा रहा है, उसे भी बाल साहित्य नहीं कहा जा सकता है। अपने इस इतिहास ग्रंथ में मनु केवल अतीत की गौरव गाथा का ही बखान नहीं करते अपितु वर्तमान के सृजन की रूपरेखा भी इसमें निर्धारित करते हैं और बाल साहित्य का भविष्य उज्वल बनाने हेतु कटिबद्ध भी होते हैं। बाल साहित्य की साझी विरासत को बच्चों से लेकर बड़ों तक पहुँचाने में प्रकाश मनु का योगदान कमतर नहीं आँका जा सकता।

एक कमी अवश्य यहाँ खलती है। प्रकाश मनु स्वयं भी बहुत सजग-सफल समीक्षक रहे हैं। अपने इतिहास ग्रंथ में उन्होंने हिंदी बाल साहित्य की समीक्षा-

आलोचना वाला हिस्सा छोड़ दिया है, जबकि आज इस दिशा में भी पर्याप्त काम हो चुका है। आशा है कि इस भाग पर भी मनु कुछ लिखने का मन बनाएंगे। प्रकाश मनु के 'हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास' ग्रंथ की उपादेयता इसलिए भी कुछ विशिष्ट है कि इसमें बच्चों की दृष्टि को सामने रखकर विभिन्न विधाओं की कृतियों को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। बाल साहित्य का सबसे बड़ा समीक्षक-आलोचक तो बच्चे का कोमल हृदय और निर्मल मन ही होता है। दीपक देहरी न्याय से प्रकाश मनु ने जहाँ अपने अंतर के बाल साहित्यकार को एक नवीन ऊर्जा दी है, वहीं बाहरी बाल साहित्य के संसार को भी अपनी रोशनाई से नव्यालोक प्रदान किया है। बाल साहित्य और बालमन दोनों ही, प्रकाश मनु की सतरंगी दिव्य चमक से प्रकाशित हो उठे हैं।

पुस्तक का नाम : हिंदी बाल साहित्य का इतिहास  
लेखक का नाम : प्रकाश मनु  
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली  
संस्करण : प्रथम, 2018, पृष्ठ : 556,  
मूल्य : 1000 रुपए।

सम्पर्क : सी-231, शाहदाना कॉलोनी,  
बरेली 243005- (उ.प्र.)  
मो. 9027422306

## परिवेश का जीवन्त चित्रण

ललित श्रीमाली

युवा कहानीकार तराना परवीन का पहला कहानी संग्रह है 'एक सौ आठ'। इसमें ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं जो लगभग 109 पृष्ठों में फैली हुई हैं। इन कहानियों में शहरी परिवेश में फैली बेरोजगारी, असमानता और भेदभाव का चित्रण बड़ी सफ़लता से किया गया है। अपने परिवेश का जीवन्त चित्रण ही लेखिका की पहचान है। लेखिका अपने परिवेश के प्रति इतनी संवेदनशील है कि जिन लोगों से हम दिन में कई बार मिलते हैं लेकिन उन्हें नोटिस में नहीं लेते, उन्हीं लोगों को इन्होंने पात्र के रूप में चुना है। इसमें एक सौ आठ का ड्राईवर महेश है तो क्ले मॉडल बने कान्ति बा भी है, एक रद्दी वाला और लिफ्ट मैन भी। हमारी इन सभी से मुठभेड़ हमेशा होती रहती है लेकिन ध्यान इनके जीवन की तरफ नहीं जाता। लेखिका ऐसे पात्रों के जीवन की पड़ताल का प्रयास करते हुए इनके जीवन के माध्यम से इंसानियत का चित्र खींचने में पूर्णतया सफल हुई है।

संग्रह की प्रतिनिधि कहानी 'एक सौ आठ' एक ऐसे एम्बुलेंस ड्राईवर की कहानी है जो अपनी इस नौकरी से उकता गया है, इस मुर्दे की दुनिया से बाहर निकलकर ऑटो चलाकर अपना गुजर-बसर करना चाहता है। वह कहता है, *इन मुर्दों में तो मरते ही इंसानियत खत्म हो जाती है, दिन में मेरे साथ चलते हैं और रात को भी*

*साथ नहीं छोड़ते, नींद में ऐसे डराते हैं जैसे इनको मैंने ही मारा है। रोज़-रोज़ का लोगों का रोना-धोना, घायलों का चीखना-चिल्लाना- ये गाना अजीब लगने लगा है। रोज़ वो ही डायलॉग कि अरे मुझे छोड़ के कहाँ चला*

**हम कुत्ते, गाय, बिल्ली, मछली, चिड़ियाँ सभी के खाने की व्यवस्था को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं, लेकिन भूखे और गरीब इंसान से नफ़रत करते हैं, हम उसे रोटी नहीं देते हैं।**

*गया, मेरा लाल, मेरे मुन्ने का बापू, मैं तुम्हारे बिना जी नहीं पाऊँगी। और उसी औरत को एक साल बाद ही दूसरे मरद का बच्चा जनने के लिए अस्पताल ले जाता हूँ। क्या धरा है इस 108 में, बस रोते ही रहो। इससे तो टेम्पो ठीक है। मनपसंद फिल्मों मौज में गाने चलाओ और फरॉटि से दौड़ाओ, कोई टेंशन नहीं। (पृ. 12)* लेकिन जब वही ड्राईवर ऑटो चलाने लगता है तो सप्ताह भर में ही

घबरा जाता है। उसे जिन्दा लोगों की दुनिया रास नहीं आती। दिन भर सवारियों की झिंक-झिंक, झंझट, गुण्डागर्दी, पुलिस की दादागिरी से परेशान हो जाता है। वो सोचता है, *मुर्दे तो सिर्फ डराते ही थे, दिन को रात को सपने में आकर रात की नींद ही तो खराब होती थी। ये साले जिन्दा लोग तो नींद ही नहीं लेने देते। मुर्दे चुपचाप पड़े रहते थे, धमकाते तो नहीं, चाकूबाजी तो नहीं करते.... लानत है। साले इंसानों पर, सालों ने जीते जी इंसानियत छोड़ दी। इनसे तो मुर्दे ही अच्छे। (पृ. 16)* और अंत में वह ड्राईवर एक घायल महिला को ऑटो में डालकर हॉस्पिटल ले जाकर अपनी इंसानियत को जिन्दा रखता है।

चतुर्थ श्रेणी कहानी के माध्यम से एक प्राइवेट स्कूल द्वारा सफाईकर्मी की भर्ती के विज्ञापन के माध्यम से गरीबों के साथ रचे गए छद्म से परिचित कराया गया है। यह हमारी व्यवस्था की खामी है जिसमें गरीब पिस रहा है और अमीर ज्यादा अमीर होता जा रहा है। सफाईकर्मी की भर्ती के लिए सभी अभ्यर्थी सुनहरे सपने देखते हुए हाड़तोड़ मेहनत करके पूरे विद्यालय को साफ करते हैं और उन सभी को एन.एफ.एस. (नन फाउण्ड स्यूटेबल) घोषित कर दिया जाता है। बेरोजगारी केवल युवकों की ही समस्या नहीं रही है, यह अब बुजुर्गों को भी अपनी जद में ले रही है, इसका जीता-जागता उदाहरण 'झुर्रियों के दाम' कहानी के कान्ति बा हैं। वो अपनी झुर्रियों के माध्यम से कमाकर परिवार की माली हालत सुधारना चाहते हैं। इस उम्मीद में अपनी प्रेक्टिस के चक्कर में असामाजिक तो बनते ही हैं साथ ही अपना चेहरा भी भावना और संवेदना में ही बन जाता है और वे एक जीते-जागते मॉडल मैन से क्ले मॉडल में बदल जाते हैं और इसी चक्कर में अपनी जान गँवा बैठते हैं।

वी.जी.आर. (विक्टिम ऑफ गैंग रेप) कहानी लेखिका की प्रगतिशील सोच की परिचायक है। इन्होंने अनछुए विषय को कहानी में ढालकर अपने साहस का परिचय दिया है लेकिन उन्हें कहानी पूरी करने की हडबड़ी भी है। भारतीय समाज अभी इतना एडवांस नहीं हुआ है जितना कहानी का अंत करते समय उन्होंने बताया है। क्योंकि कहानी के भीतर एक जगह वो कहते हैं "हमारे देश में तो शादी सिर्फ लड़का-लड़की यानी एक्स प्लस वाई (X+Y) में नहीं होती, वह तो (ABC X+DEF Y) के बीच तय होती है। माँ-बाप, दोस्त, रिश्तेदार सभी को लड़की पसंद आनी चाहिए।" (पृ. 46) कहानी के अंत में सुधीर अचानक ही सुनिधि से शादी के लिए तैयार हो जाता है। 'सबक' कहानी वास्तव में नन्दू की मम्मी ही नहीं हम सभी के लिए सबक है। हम कुत्ते, गाय, बिल्ली, मछली, चिड़ियाँ सभी के खाने की व्यवस्था को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं लेकिन भूखे और गरीब इंसान से

नफरत करते हैं, हम उसे रोटी नहीं देते हैं। 'राजू शायर' कहानी के माध्यम से लेखिका ने पर्यटक स्थलों पर काम करने वाले बाल-मजदूरों के जीवन के यथार्थ से परिचित करवाने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में भेदभाव, ऊँच-नीच की जड़ें कितनी गहरी हैं इसको 'यह तेरा बक्सा, वह मेरा बक्सा' में उजागर करने का प्रयास किया गया है। मरने के बाद मोर्चरी के बक्सों में बंद शव भी ऊँच-नीच की ही बातें कर रहे हैं।

*डिब्बा बंद* कहानी लिफ्टमैन की कहानी है जब हम मॉल में जाते हैं, तो सोचते हैं कि लिफ्टमैन की जिंदगी कितनी अच्छी है। उन्हें कुछ भी नहीं करना पड़ता लेकिन वास्तविकता कुछ अलग ही होती है जिससे परिचित कराने का प्रयास लेखिका ने किया है। इन कहानियों के माध्यम से तराना परवीन एक युवा और संभावनाशील कहानीकार के रूप में हमारे सामने आती हैं। उन्होंने भारतीय समाज से उन लोगों को कहानियों का माध्यम बनाया जो निम्न मध्यमवर्गीय लोग हैं। ये लेखिका की संवेदनशीलता को दर्शाता है। इस कहानी संग्रह का स्वागत है।

पुस्तक का नाम : एक सौ आठ (कहानी संग्रह):  
लेखिका : तराना परवीन,  
प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, नईदिल्ली  
संस्करण : 2019

सम्पर्क : 38-ए लेन-I, विनायक नगर,  
रामगिरि, बड़गाँव, उदयपुर (राज.) 313 011

lalitshrimali2014@gmail.com



## कृष्णा सोबती और विस्थापन का दर्द

ममता

समकालीन हिन्दी साहित्य में कृष्णा सोबती एक चर्चित नाम है। 18 फरवरी 1925 को गुजरात पाकिस्तान में जन्मी कृष्णा सोबती हिंदी साहित्य जगत् में अपना अलग ही स्थान रखती हैं। 25 जनवरी 2019 को उनका निधन दिल्ली में हुआ। उनका जाना हिन्दी साहित्य जगत् व उनके अपनों के लिए बेहद दुःखद क्षण था। वह स्वतंत्र भारत की आधुनिक महिला लेखिकाओं में से एक थीं। काफी लम्बे साहित्यिक अनुभवों के साथ वह हिन्दी साहित्य जगत् से जुड़ी थी। सोबती लाहौर में पली-बढ़ी और विभाजन के बाद अपने परिवार के साथ भारत आ गईं। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी एक मजबूत साहित्यिक पहचान बनाई। साहित्य में वह अपनी संयमित भाषा व अभिव्यक्ति के जरीए अपनी रचनाओं को नए मुकाम पर ले गईं। 'जिंदगीनामा' उपन्यास सोबती का चर्चित उपन्यास है, जिसके लिए उन्हें 1980 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। 1996 में इन्हें साहित्य अकादमी अध्येतावृत्ति से सम्मानित किया गया। डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, यारों के यार, तीन पहाड़, सूरजमुखी अंधेरे में, जिंदगीनामा, ऐ लड़की, दिलोदानिश, सिक्का बदल गया जैसी रचनाएँ उन्होंने लिखी। उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए उन्हें 2017 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' दिया गया।

कृष्णा सोबती का आखिरी उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' था जो सन् 2017 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में विभाजन, शरणार्थी, राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया से जुड़ी रियासतों का मानसिक द्वंद्व तथा भारतीय समाज का चित्रण लेखिका ने बखूबी किया है। यह उपन्यास पढ़कर लगता है जैसे हम कोई संस्मरण पढ़ रहे हों। संस्मरणात्मक शैली के साथ-साथ इसमें उपन्यास के गुण भी हैं, जो इसे उपन्यास की श्रेणी में रखता है। कहा जा सकता है कि यह सोबती जी की आत्मकथा ही है। आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास एक 20-21 वर्ष की लड़की की कहानी है जो गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान में शरणार्थी के रूप में आई है। उपन्यास में जिस युवा लड़की का जिक्र है वह स्वयं लेखिका है। कृष्णा सोबती विभाजन की भोक्ता व दर्शक दोनों

ही थी। उन्होंने जो पाया वही लिखा और बड़े ही मार्मिक ढंग से बताया है। यह उपन्यास स्वानुभूति का उपन्यास है इसलिए इसमें आत्मकथात्मक गुण भी दिखते हैं।

सोबती का साहित्य उनके किरदारों व कथा संसार के लिए हमेशा स्मरणीय रहेगा। उपन्यास 'मित्रो मरजानी' के किरदार को हिन्दी साहित्य में एक आधुनिक स्त्री के रूप में जाना जाता है जो समाज के नियमों को

तोड़ने की बात करती है। *पवित्रता* के सवालों से झूझती हुई खड़ी होती है और समाज के दोहरे मापदंडों पर प्रश्नचिह्न लगाती है। सोबती *मित्रो* के किरदार के द्वारा एक स्त्री की शारीरिक जरूरतों जैसे अहम प्रश्नों को उठाती हैं जो आज भी समाज में उपेक्षित समझे जाते हैं। स्त्री मन की गाँठों को उनकी रचनाएँ बखूबी खोलती हैं। जो भी उनके जीवन अनुभवों ने उन्हें दिया, उसे वह बार-बार अपनी स्त्री पात्रों में खोजने का प्रयास करती रहीं। वह अपने पात्रों, अपने समाज, समय व प्रकृति का चित्रण करते समय व लोकसंस्कृति के हर क्षेत्र में वह रम-सी जाती हैं। ऐसा लगने लगता है कि लोक-गीतों की धुनें उनके साहित्य से निकल कर जीवित हो उठी हैं। लोकगीतों व लोकोक्तियों की भरमार उनके साहित्य की विशेषता है। *जिंदगीनामा* कृति तो संपूर्ण पंजाब व उसकी संस्कृति के परिदृश्य को आँखों के सामने ले आती है। वर्णन सजीव हो उठते हैं और हम उस काल विशेष के एक अंग बन जाते हैं जो अब तक कथा का हिस्सा थी अब मानो हमसे ही वार्तालाप कर ही हों। सोबती जी अपनी कथाओं में इतना सूक्ष्म चित्रण करती हैं कि कभी-कभी कथा में वह अनावश्यक-सा प्रतीत होने लगता है तथा कथा लंबी होने लगती है परन्तु कथा की यह लंबाई पूरा एक माहौल तैयार करती है जिससे पाठक न केवल मानसिक रूप से कथा का हिस्सा बन जाता है बल्कि सशरीर भी अपने को कथा में पाता है।

सोबती एक नई ताज़गी के साथ एक ऐसे कथा संसार को गढ़ती हैं जो उपन्यास के जरीये जीवन जीने की उस जिजीविषा को भी दिखाती हैं जो कितने ही कष्टों, बिखरावों के बाद भी मनुष्य को फिर से जमीन बनाने के लिए प्रेरित करती है। एक स्त्री के अस्तित्व से जुड़ी यह जिंदादिली न केवल मानव बल्कि मानव के संपूर्ण जीवन व एक सभ्यता को नए आयाम देती है।

लेखिका ने अपने उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' में जिस विषय को उठाया है वह शरणार्थी होने की पीड़ा को व्यक्त करता है। आज़ादी के

बाद जो विभीषिका हिन्दुस्तान ने दो मुल्कों के रूप में बँटकर झेली उस त्रासदी को व्यक्त करते हुए एक स्त्री की मानसिक दशा का वर्णन करते हुए लेखिका कहती हैं- *हाँ, यह भी किस्मत की मारी। इसके परिवार का कोई नहीं बचा। लाशों के ढेर तले जाने कैसे पड़ी रहती है। बस रात हुई नहीं कि छाती पीट-पीटकर बकारा करने लगती है।*

कृष्णा सोबती जी जब शरणार्थी के रूप में भारत आई तो उन्हें भी शरणार्थी होने के दर्द को झेलना पड़ा। एक शरणार्थी के रूप में उन पर लोगों का विश्वास न करना, उस पीड़ा को और बढ़ा देता था जो विस्थापन के कारण लेखिका ने झेली। अपनी जड़ों से अलग होकर दूसरे देश व समाज में रच बस जाना इतना आसान नहीं होता।

कथा में जुत्सी साहिब द्वारा सोबती को *शरणार्थी* के रूप में संबोधित किया जाता है। वह शरणार्थियों की नई परिभाषा गढ़ते हुए कहते हैं, *आप शरणार्थी होने का फार्म भर देंगी तो राशन मुफ्त मिल जाएगा। ओढ़ने को कम्बल। रजाइयाँ भी।* शरणार्थियों के प्रति उस समय का समाज किस प्रकार की मानसिकता व अविश्वास लिए हुए था। एक शरणार्थी की पीड़ा को केवल एक शरणार्थी ही समझ सकता है। इस कथन व अन्य कई संवादों के जरीये यह स्पष्ट होता है कि लेखिका को जगह-जगह पर बार-बार *शरणार्थी* शब्द से संबोधित किया गया। जुत्सी साहिब सोबती से कहते हैं कि- *शरणार्थी के पास यह कीमती कलम। कहीं से मिली होगी।* बार-बार कहे गए ऐसे शब्दों से कृष्णा अपने को हिन्दुस्तान में रहकर अपने को अपमानित महसूस करती हैं लेकिन वह अपने मन को समझाते हुए कहती हैं- *हमें अब पुराने नहीं, नए मुल्क का पानी पीना है। पुराना वतन छोड़ना होगा। नई सरहदों को पार करना होगा।* ये सरहदें इंसानों द्वारा ही खींची जाती हैं जब देश के टुकड़े कर उसे दो भागों में बाँट दिया जाता है। अपने घर से दूर जाकर शरणार्थी के रूप में नयी पहचान बनाना व अपने लिए नई जमीन

खोजना पड़ता है। 'पानी भी कहीं ओर का पीना होगा' यह दर्द अपनी जड़ों से कटने का दर्द है। प्रत्येक शरणार्थी अपने शहर को हमेशा नए शहर में खोजता है। वह कहता है कि यह शहर मेरे शहर जैसा नहीं है, मेरे शहर में ऐसा नहीं होता, वैसा नहीं होता। कृष्णा सोबती दिल्ली में पीछे छूट चुके लाहौर को ढूँढ़ रही थीं, जहाँ उन्होंने अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष गुजारे।

भारत भले ही आजाद हो चुका था परन्तु मानसिक रूप से हम अभी भी अपनी स्त्रियों को *कुएं का मेढ़क* ही बनाए रखना चाहते थे। कई अन्य संवादों के जरीये लेखिका के पहनावे पर भी अंकुश लगाया जाता है। सोबती की मौसी और सोबती के बीच चले संवाद से यह स्पष्ट होता है कि हमारा देश दो हिस्सों में ही नहीं बँटा बल्कि लोगों के दिलों का भी बँटवारा हो गया।

'मौसी- तुम क्या मुसलमानी कपड़े पहने रहती हो। गरारा कमीज, जहाँ तुम्हारा काम लगा है, उन्हें यह पसंद नहीं आएगा। वह हिन्दू रियासत है। बँटवारे के बाद भला हम क्यों पहनें उनकी पोशाकें।

सोबती- मौसी ये कपड़े की लड़ाई नहीं। रोटी-रोजी, खेती और नौकरियों की लड़ाई थी।

मौसी- देखो अगली बार यहाँ आओ तो गरारे की जगह सलवार पहनकर आना।

सोबती ने तेवर चढ़ाकर कहा- *फिर तो मैं यहाँ कभी न आऊँगी। मैं अपनी मनपसंद पोशाक बदलने से रही।* हमारी धार्मिक भेदभाव की नीति की सीमाओं में हमारा रहन-सहन व पहनावा भी आता है और यह अलगाव भारत विभाजन के बाद की परिस्थितियों में और बढ़ गया। लेखिका लाहौर छोड़ दिल्ली आ चुकी थी। उन्होंने इस विस्थापन को स्वीकार कर लिया परन्तु जेह में उठते प्रश्नों को रोक न पाती। वे कहती हैं कि *पुराने ठिये से उखड़ना, पुराने लगावों से दूर होना और वतन को पीछे छोड़ना क्या एक ही बात है?* विस्थापन

के इस दर्द को अलग-अलग उपन्यासकारों ने अपनी कथा में जगह दी। यशपाल का *झूठा-सच* विभाजन की त्रासदी को दिखाने वाला बड़ा ही मार्मिक उपन्यास है। भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास *तमस* में हरनाम सिंह व बन्तो के जरीये इस पीड़ा को दिखाया है। जब हरनाम सिंह बचपन में साथ खेले दोस्तों द्वारा मुसीबत की घड़ी में अकेला छोड़ देने से दुखी होता है। हरनाम सिंह भी अपनी जड़ों, अपने यार-दोस्तों से अलग होने, अपनी जिंदगी की पूँजी खो देने और उन सब से भी बढ़कर विस्थापित होने से दुखी है। भीष्म साहनी ने *तमस* में हरनाम सिंह का जबरन हुए विस्थापन व उससे उपजे सांप्रदायिक दंगों का जिस दर्द के साथ चित्रण किया है वैसा चित्रण कृष्णा सोबती जी अपने उपन्यास में नहीं दिखा पाई।

कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यास में विस्थापन के दर्द को नए समाज में बसने की व पुराने समाज को छोड़ने के दर्द की मानसिक पीड़ा को दिखाया है। इस विभाजन ने हमें व हमारे समाज को *सांप्रदायिकता* भरी वह क्रूर मानसिकता दी और सांप्रदायिकता को एक औजार ही बना दिया जिसमें मनुष्य अपनों का ही खून करने से नहीं झिझका। लेखिका कहती हैं- *अब तो हम तेज किए हुए चाकू हैं। हम आग का पलीता हैं। हम दुश्मनों को चाक कर देने वाली गरम हिंसा हैं। हम दुल्हनों की बाँहें काट देनेवाले टोके हैं। हम गंडासे हैं। अब हम नहीं हैं, हथियार हैं।*

लेखिका विभाजन के इस समय में राजनीति की भूमिका को भी स्वीकार करती हुई कहती हैं, *अब बचाने वाले और भूखे कुत्ते एक हो गए हैं, तो पुलिस का खाता कौन खोलेगा।* अर्थात् रक्षक व भक्षक एक ही भूमिका में आ गए हैं।

कृष्णा सोबती आजादी के उन प्रश्नों को भी उठाती हैं जिसके लिए हमने आजादी चाही। भारत आजाद हुआ था एक सुनहरे कल के लिए, परन्तु विभाजन की

त्रासदी व नए भारत में युवाओं के टूटते सपने, चाहे वह रोजगार, भ्रष्टाचार या देश में गरीबी हटाने का प्रश्न हो, ये प्रश्न आज भी आजादी के 70 वर्षों बाद भी प्रासंगिक हैं व जस के तस पड़े हुए हैं, तो इन हालातों में आजादी के क्या मायने रह जाते हैं? आज भी समाज को तोड़ने का कार्य किया जा रहा है। भारत-पाक विभाजन हिन्दू मुस्लिम के बीच अलगाव के कारण हुआ। देश आजाद हुआ लेकिन झगड़े खत्म नहीं हुए। अशिक्षा, बेरोजगारी, जाति व्यवस्था जैसे पिछड़ेपन के ये मुद्दे कहीं छुप गए हैं। जाति व्यवस्था को देश में एक ऐसे मुद्दे के रूप में लेखिका देखती हैं जो आजादी के पहले व बाद में भी देखने को मिलता है। वे लिखती हैं- *क्या है यह पिछड़ापन, अशिक्षा। बँटवारा क्यों हुआ। यहाँ बनिया, ब्राह्मण, राजपूत का मसला है- वहाँ हिन्दू-मुसलमान का था।* कृष्णा सोबती जाति व्यवस्था को सामने लाती हैं उन्हें उनके तीखे मिजाज का कारण पूछते हुए पूछा जाता है कि- वह क्या हैं? बनिया या ब्राह्मण? लेखिका अपने स्वभाव व जाति के संबंध को खारिज करती हैं, तथा आधुनिक व आजाद भारत के लिए जाति को आवश्यक नहीं मानती तथा कहती हैं- *अब आजाद देश में यह विभक्तियाँ नहीं चलेंगी।*

लेखिका उपन्यास में यह बताने का प्रयास करती हैं कि आजादी से पूर्व हिन्दू-मुस्लिम अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते रहे और यही आपसी एकता के कारण ही अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना पड़ा, अंग्रेजों की *फूट डालो और शासन करो* की नीति ने जहाँ न केवल हिन्दू-मुसलमान दंगे करवाए बल्कि आजादी के नाम पर वह हमें बँटवारा दे गए। भीष्म साहनी के उपन्यास *तमस* में अंग्रेजी अफसर रिचर्ड अपनी पत्नी लीजा से कहता है कि *हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पाई जाती है। उसकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।*

कथा में सोबती जी कहती हैं कि *आजादी से पूर्व व बाद में हम हिन्दू-मुसलमान के झगड़ों में उलझे रहे और आजादी के बाद जाति-व्यवस्था जैसे झगड़ों में उलझे हुए हैं। आजादी से आखिर देश को क्या मिला?* इन प्रश्नों का उत्तर खुशवंत सिंह 1956 में प्रकाशित अपने उपन्यास *पाकिस्तान मेल* में लिखते हैं कि *आजादी के मायने मजदूरों व दलितों के लिए उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं लाए।* वे लिखते हैं कि *पहले गोरे उन पर राज करते थे। अब काले उन पर शासन करेंगे, उनकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति जस की तस ही रहने वाली है।* 1956 में खुशवंत सिंह जिन सवालियों को खड़ा करते हैं। 2017 में कृष्णा सोबती अपने उपन्यास के जरीये उन्हीं मसलों को उठाती हुई दिखती हैं। आजादी के बाद भी ज़मीनी बातें वहीं की वहीं हैं, देश में आज भी विस्थापन की समस्या है। पहले देश के विभाजन की परिस्थितियों से विस्थापन हुआ, आज उद्योगीकरण, बाँध निर्माण के कारण, खनन व अन्य कारणों से आदिवासियों को अपने जल, जंगल, ज़मीन को छोड़ पलायन करना पड़ रहा है।

विभाजन के कारण विस्थापित होने के बाद भी लोगों का एक विश्वास अब भी नहीं टूटा, वे अब भी अपने धर्म को मानते थे, लोग भले ही तन ढकने के लिए कपड़े के अलावा अपने साथ कुछ न लाए हों परन्तु धर्म की पोटली वे अपने मन मस्तिष्क में संजोकर ले आए थे। सोबती की नानी अपने भगवान की मूर्ति किसी दुर्जन के हाथ नहीं लगने की प्रार्थना करती हैं। वे अपना सब-कुछ छोड़ आई, परन्तु धर्म उन्हें उस मोह को छोड़ने नहीं देता जिससे मनुष्य की आस्था जुड़ी है। नानी कहती हैं- *हे समुद्र देवता, अपने पोथी-पत्रों और शालिग्राम को पीछे छोड़ मैं घर से निकल पड़ी। नदियों के रखवाले सागर देव, मेरे गुनाह माफ करना। कुछ ऐसा करो कि मेरे पवित्र पत्रे और शालिग्राम किसी दुर्जन के हाथ न लगे।*

लेखिका उपन्यास में भारतीय स्त्री के भीतर के संस्कारों, धर्म, रीति-रिवाजों को दिखाती है जो जीवन भर के लिए उससे जुड़ जाते हैं चाहे स्थान बदले या काल, परिस्थितियाँ बदलने पर भी धर्म मनुष्य को अपनी जड़ों से अलग होने नहीं देता। मेरे गुनाह माफ करना जैसे वाक्य भारतीय संस्कृति में मोक्ष की कामना हेतु प्रयोग में लाए जाते हैं। लेखिका कथा के माध्यम से इतनी सरलता से उन तत्त्वों का उल्लेख करती हुई चलती है जिनकी आधारशिला भारतीय धर्म और यहाँ की संस्कृति है।

लेखिका ने आज़ादी के बाद बदलती राजनीतिक परिस्थितियों को भी उपन्यास में जगह दी है, लोगों के महात्मा गाँधी के प्रति बदलते विचार इस ओर इशारा करते हैं कि विभाजन को न रोक पाना गाँधी जी की बहुत बड़ी भूल थी। समूचा जन मानस उनकी इस भूमिका की आलोचना कर रहा था। लेखिका पात्रों के द्वारा अपने भीतर के रोष को व्यक्त करती हैं। पात्र कस्तूरिलाल कहता है— *जिसने मुल्क बँटवा दिया, लाखों बंदों को मरवा दिया, भला उसके दर्शन करने चली हो!*

लोगों में बढ़ता महात्मा गाँधी के लिए यह रोष उस समय की सामाजिक व राजनीतिक हकीकत को दिखाता है। गाँधी की मृत्यु के बाद उन्हें लोगों से खोया हुआ प्यार व सम्मान पुनः मिला। उपन्यास में गाँधी की मृत्यु के प्रसंग को उठाते हुए लेखिका यह भी प्रश्न उठाती है कि गाँधी की मृत्यु के लिए जिन पर शक गया वह या तो शरणार्थी थे या मुसलमान अर्थात् देश में अल्पसंख्यकों पर अविश्वास के भाव व उससे जन्मी पीड़ा को भी जाहिर करती हैं हालाँकि गाँधी को एक हिन्दू ने मारा था। जितना दुख भारतीयों को गाँधी की मृत्यु से हुआ उतना ही दुख पाकिस्तानी आवाम को भी था।

यह उपन्यास न केवल शरणार्थी के रूप में हिन्दुस्तान की नई पृष्ठभूमि सजाती है बल्कि यह लोकतांत्रिक भारत के निर्माण की कथा भी कहती है। कथा में ऐतिहासिक प्रसंगों का भी सहारा लिया गया है।

राज्यों के पुनर्गठन की नीति के असर का भी लेखिका उपन्यास में वर्णन करती है।

लेखिका तत्कालीन सरकार व राजनीति को इस विभाजन के लिए जिम्मेदार मानती हैं। अपने वजूद से अलग करने, नई सीमाएँ बनाने व अपने क्षेत्रों से सिमटकर रह जाने जैसी सरकारी नीतियों की बखिया उधेड़ते हुए वह लिखती हैं— *जाती सरकार ने सजा दी हमें और आती सरकार ने हमीं से कर वसूली की।*

विभाजन के इस दर्द को हाल ही के वर्षों में हिन्दी सिनेमा ने भी बखूबी उठाया है। *बेगमजान*, *भाग मिल्खा भाग*, *पिंजर* जैसी फिल्मों में जहाँ लेखिका की कथा से भिन्न हैं वहीं फिल्मांकन और उपन्यास में अंतर दिखता है। *बेगमजान* फिल्म में प्रशासन व बेगमजान के बीच एक कोठे को लेकर विवाद के सहारे फिल्मकार ने अपनी ज़मीन से अलग होने के दर्द व संघर्ष को दिखाया है। *भाग मिल्खा भाग* में मिल्खा सिंह में विभाजन के कारण पनपे उस मानसिक अवसाद को दिखाने का प्रयास किया है जो पूरी जिंदगी उसे बेचैन किए रहती है। *पिंजर* उपन्यास अमृता प्रीतम द्वारा लिखा गया है। कृष्णा सोबती और अमृता प्रीतम दोनों ही विभाजन की भोक्ता रही हैं। दोनों के स्वयं अर्जित अनुभवों की झलक उनके उपन्यासों में भली-भाँति देखने को मिलती है। लेखिका ने उपन्यास को संस्मरणात्मक शैली में लिखा है जबकि प्रीतम ने *पिंजर* में स्त्री की दशा का बड़ा ही करुण चित्रण किया है। बलात्कार, स्त्रियों की खरीद-फरोख्त, परिवारों द्वारा अपहरण की गई लड़कियों को न अपनाया जैसे मुद्दों को अमृता जी ने अपनी रचनाओं में सजीव रूप से प्रस्तुत कर सफलता हासिल की है। कृष्णा सोबती ऐसे मानसिक अवसाद को दिखाती हैं जो बाह्य न होकर भीतरी अधिक है। यह पीड़ा भी उस पीड़ा से कहीं कम नहीं है जो *अमृता प्रीतम* की स्त्री चरित्रों ने भोगी, परन्तु सोबती जी के उपन्यास में उसका रूप अधिक बीभत्स नहीं दिखता जितना कि अमृता प्रीतम के उपन्यास विशेषकर *पिंजर* में दिखता है।

कृष्णा सोबती की लेखन शैली की यह विशेषता है कि उनकी कथाएँ मनुष्य को भीतर तक महसूस होती हैं, चूँकि उपन्यास में कहीं सस्पेंस, टर्निंग प्वाइंट या क्लाइमेक्स नहीं आता दिखता परन्तु उपन्यास ऐसे संवेदनशील मुद्दों को लेते हुए चलता है जिसे सहृदय पाठक ही आत्मसात् हो पाता है। कृष्णा सोबती उपन्यास के वातावरण का वर्णन इस प्रकार से करती हैं कि पाठक एक कथन को दूसरे से जोड़ते-जोड़ते कहीं और खो जाता है। उनकी लेखन शैली इतनी विस्तृत व प्रगाढ़ है कि सामान्य पाठक उसमें नए संसार को गढ़ने में कठिनाई महसूस करेगा परन्तु यह लेखक की नहीं बल्कि पाठक के स्तर पर प्रश्न उठाती है।

लेखिका की क्षेत्रीय भाषा, विशेषकर लाहौर की पंजाबी भाषा का प्रयोग उपन्यास में जगह-जगह दिखता है। उनके पहनावे व संस्कृति का असर उनके पात्रों में दिखता है। लेखिका के पात्र सजीव व जीवंत तथा परिवेश में स्वयं रचे बसे दिखते हैं। वहीं इस उपन्यास में अपने अस्तित्व को बनाए रखने व नई पहचान को अपनाने का द्वंद्व भी नज़र आता है। यह उनके संस्मरणात्मक उपन्यास की विशेषता है।

लेखिका ने छोटे-छोटे संवादों का प्रयोग किया

है जिससे वातावरण सजीव को उठा है तथा पात्र जो कहना चाहते हैं उसमें यह तीखापन व ताज़गी दिखती है जो उनके अन्य उपन्यासों के पात्रों में भी दिखती है। संवाद छोटे होने के बावजूद अपनी सारगर्भिता लिए हुए हैं। संवाद परिवेश में घट रही घटनाओं का हमारे सम्मुख मूर्त रूप प्रस्तुत करते हैं, जो लेखिका की खूबी है।

इस उपन्यास में लेखिका कृष्णा सोबती ने स्वअर्जित अनुभवों का उल्लेख विभिन्न पात्रों के माध्यम से किया है। विभाजन का दुख व एक शरणार्थी के रूप में भारत आने की पीड़ा को वह अपने वक्तव्यों के जरीये बखूबी उभारती है। उनके जाने के बाद उनकी कमी हिंदी जगत् को हमेशा ही खलेगी, हालाँकि उनका समृद्ध साहित्य हमें उन्हें भूलने नहीं देगा।

\*\*

पुस्तक का नाम : गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान  
लेखिका : कृष्णा सोबती  
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन  
प्र.संस्मरण : 2017,  
मूल्य : 295/- पेपरबैक संस्मरण

सम्पर्क : के.एच. 47, ई 44, राजपुर खुर्द,  
नई दिल्ली, 110068  
mamtar35@gmail.com  
मो. 8376922025



## 21वीं सदी और साहित्यिक विमर्श

दो दिवसीय चिन्तन, मनन, मंथन विमर्श संगोष्ठी प्रतिवेदन।



उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय के हिन्दी विभाग, गाँधी विद्या मन्दिर, सरदारशहर, चूरू (राज.) द्वारा दिनांक 8-9 नवम्बर, 2019 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी का उद्घाटन डॉ. सदीप अवस्थी एवं ब्रजरतन जोशी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। सत्र में मुख्य अतिथि डॉ. संदीप अवस्थी ने दलित, आदिवासी परिवार और थर्ड जेंडर विमर्श पर भी अपने विचार व्यक्त किए। मधुमती के सम्पादक ब्रजरतन जोशी ने कहा कि ज्ञान क्रिया के बिना भार स्वरूप है। जोशी ने साहित्य में विमर्श के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला। उद्घाटन सत्र को संबोधित करते हुए सत्र अध्यक्ष हिमांशु दूगड़ ने कहा कि स्त्री-पुरुष समानता का बिन्दु परिभाषित हो। मानव जाति एवं मानव धर्म पर विमर्श किया जाए साथ ही हिन्दी भाषा के शब्दकोष में नवीनीकरण के लिए सुझाव भी दिए। उन्होंने थर्ड जेंडर विमर्श पर भी अपने विचार व्यक्त किए। समाज में उनकी स्थिति क्या है?

और इनकी अपनी समस्याएँ क्या हैं? उन्हें कैसे न्याय मिले इस पर भी चर्चा की। कुलपति डॉ. दिनेश कुमार ने कहा कि भारतीय संस्कृति में स्त्री-पुरुष का भेद था ही नहीं। यह तो कालान्तर में विदेशी आक्रमणों के कारण भारत में आया। प्रो. देवेन्द्र मोहन ने हिन्दी साहित्य के 20वीं सदी के साहित्यकारों की विशेषताओं से परिचित करवाया डॉ. कल्पना मौर्य, संगोष्ठी समन्वयक ने अतिथि परिचय, संगोष्ठी परिचय एवं स्वागत उद्बोधन दिया।

उद्घाटन-सत्र में विभिन्न राज्यों से आये हुए अतिथियों, प्रतिभागियों, अन्तरराष्ट्रीय स्तर की निहारिका मालवीय (स्वीडन), डॉ. शिवानी हर्डिया (डेनमार्क), मुन्नालाल हर्डिया (परीक्षा नियन्त्रक, देवी अहल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, म.प्र.), डॉ. शेखर (आई.टी कॉलेज), प्रो. टी.जी. बिकार्या (राजकोट, गुजरात), डॉ. बीना शर्मा (कर्नाटक) तथा गाँधी विद्या मन्दिर के सभी विद्वजन एवं भारी संख्या में छात्र-छात्राएँ उपस्थित थे।

डॉ. कल्पना मौर्य, सरदारशहर

मधुमती : दिसम्बर, 2019

समाचार पत्र पंजीयन सं. 10421/60

प्रेषण तिथि : 25-26 प्रतिमाह

डाक पंजीयन क्र. आर.जे./यू.डी./29-53/2018-2020

प्रेषण कार्यालय का पता - मुख्य डाकघर, चेतक सर्कल, उदयपुर

मुद्रण तिथि 14.12.2019



### रघुवीर सहाय

09 दिसम्बर, 1929 - 30 दिसम्बर 1990

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

हँसो अपने पर न हँसना  
क्योंकि उसकी कड़वाहट पकड़ ली जाएगी  
और तुम मारे जाओगे  
ऐसे हँसो कि बहुत खुश न मालूम हो  
वरना शक होगा कि यह शख्स शर्म में शामिल नहीं  
और मारे जाओगे

हँसते हँसते किसी को जानने मत दो किस पर हँसते हो  
सब को मानने दो कि तुम सब की तरह परास्त होकर  
एक अपनापे की हँसी हँसते हो  
जैसे सब हँसते हैं बोलने के बजाए

जितनी देर ऊँचा गोल गुंबद गूँजता रहे, उतनी देर  
तुम बोल सकते हो अपने से  
गूँज थमते थमते फिर हँसना  
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे  
अंत में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे और तुम बच जाओगे

हँसो पर चुटकलों से बचो  
उनमें शब्द हैं  
कहीं उनमें अर्थ न हो  
जो किसी ने सौ साल पहल दिए हों

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो  
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे  
और ऐसे मौकों पर हँसो  
जो कि अनिवार्य हों  
जैसे गरीब पर किसी ताकतवर की मार  
जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता  
उस गरीब के सिवाय  
और वह भी अक्सर हँसता है

हँसो हँसो जल्दी हँसो  
इसके पहले कि वह चले जाएँ  
उनसे हाथ मिलाते हुए  
नज़रें नीची किए  
उनको याद दिलाते हुए हँसो  
कि तुम कल भी हँसे थे !

सचिव, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा प्रकाशित  
एवं संजय प्रिन्टर्स, उदयपुर में मुद्रित

email : madhumati.udaipur@gmail.com